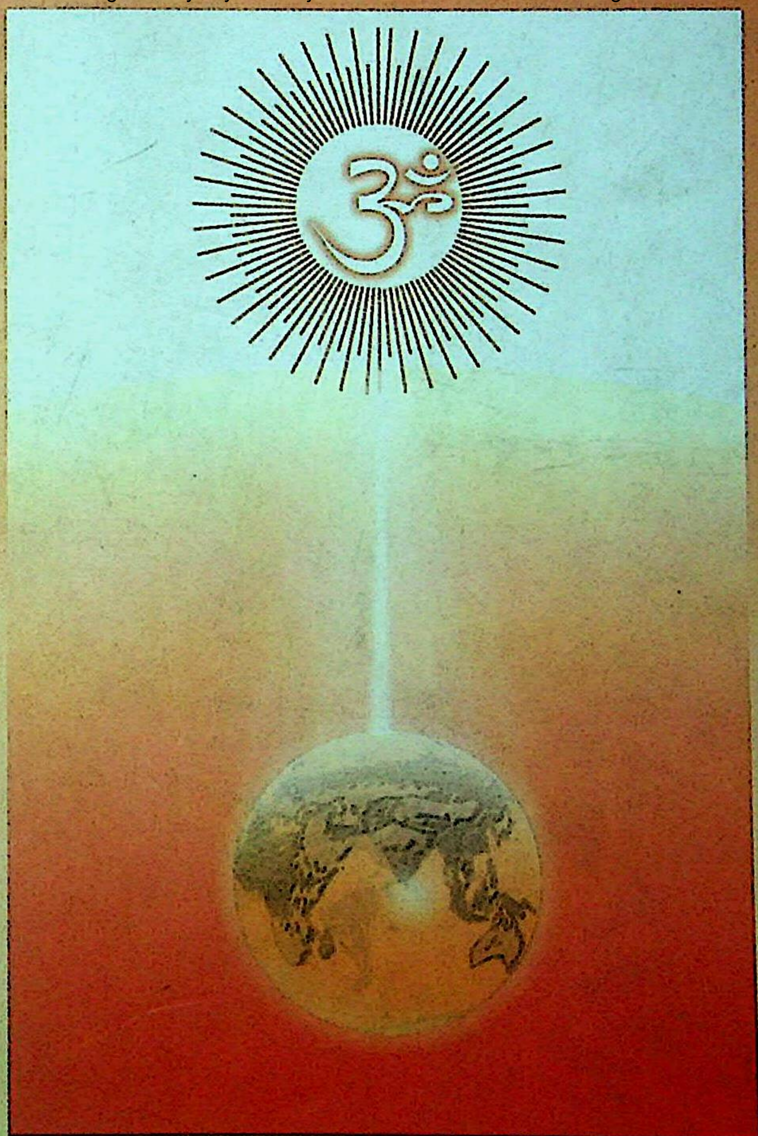


दिव्य जीवन की ओर



दिव्य जीवन की ओर



सुखवीर आर्य

श्रीअरविन्द चेतना समाज
दिल्ली

प्रथम संस्करण — २०००

मुद्रक :
श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस
पांडिचेरी

मूल्य : ४० रुपये

प्रकाशक :
श्रीअरविंद चेतना समाज
दिल्ली

'DIVYA JIVAN KI ORE' PUBLISHED BY
SRI AUROBINDO CHETANA SAMAJ, DELHI

समर्पण

जिन चरणों का पर्श प्राप्त कर, जड़ में प्रकटे अतिमन-चेतन।
खुले चेतना नील-गगन में, करती मानस-सीमा-लंघन।।
जिनकी स्वर्णिम छाया में पल, श्वेत बना काजल-सा जीवन।
उसका पुष्पण आज सजा कर, उन चरणों में करता अर्पण।।

अनुक्रम

आत्म-कथ्य

"दिव्य जीवन की ओर" मेरी अपनी साधना-यात्रा है, मेरा अपना चिन्तन, मेरी अनुभूतियाँ हैं। मेरे अपने अनुभूत विचार। जगत और जीवन को जैसा मैंने देखा, साधना में जो दृश्य मेरे सम्मुख खुले, वाणियाँ जो सुनायी दीं, वे सत्य, जिनमें मैं प्रतिक्षण निवास करता हूँ, दृष्टि, जो दिन-दिन अधिक उज्ज्वल-स्पष्ट हो रही है, नई-नई ऊँचाइयों को छू रही है, विशालता में प्रवेश पा रही है— यही सब संग्रह-सामग्री "दिव्य जीवन की ओर" रचना में उपादान बनी है।

देख रहा हूँ, मनुष्य निरर्थक कष्ट पाते हैं। व्यर्थ परेशान रहते हैं। वास्तव में उनकी परेशानी का कारण बाहर नहीं है, जैसा कि वे समझते हैं। कारण भीतर है, उनकी अपनी प्रकृति में है। अगर वे अपनी परेशानी के लिए दूसरों को, बाह्य घटनाओं को, परिस्थितियों को दोष न देकर उनका कारण अपने अंदर, अपनी प्रकृति में खोजें, तो स्थिति एकदम बदल जायेगी। उन्हें अपने अंदर अपने अहंकार में, मन में, हृदय में ग्रंथियाँ नजर आयेंगी और जैसे ही वे उन्हें काट-छांट कर बाहर फेंक देंगे, उनके चारों ओर का वातावरण सुखदायी, शांतिमय, सामंजस्यपूर्ण हो जायेगा। वे सुखी अनुभव करेंगे। मानों उनके सिर पर एक बोझ था जो उन्होंने उतार फेंका और वे हल्के हो गये। उनके मन-चित्त-हृदय में प्रसन्नता का उदय होगा, जो जीवन-मार्गों पर बढ़ने के लिए परम आवश्यक है।

मनुष्यों की परेशानी का दूसरा कारण है— उनका आत्म-अज्ञान। वे अपने मौलिक सत्य से दूर हैं। आत्मा के एकत्व की चेतना से उनका कोई संबंध नहीं है। उनकी अहमात्मक अज्ञानजनित सीमित चेतना उन्हें अपने चारों ओर के जगत से पृथक करती है। वे अपने आपको एक पृथक व्यक्ति के रूप में देखते हैं। इस पृथकता के कारण ही हमारे अंदर इच्छाएँ उठती हैं, लोभ जागता है और स्वार्थभाव जन्म लेता है। हम अपने से बाहर की वस्तुओं को पाना और उन्हें भोगना चाहते हैं। किसी भी प्रकार से उन्हें आत्मसात् करना चाहते हैं। भोगों को भोगने की वृत्ति, सांसारिक वस्तुओं में आकर्षण, उन्हें प्राप्त करने की कामनाएँ, हमारी चेतना को, हमारी जीवन-धारा को बहिर्मुखी कर देते हैं। बहिर्मुखता हमें अपने हृदय-केन्द्र से, आत्म-सत्य से, सच्चे स्वरूप से दूर खींच ले जाती है। जहाँ हम तब तक भटकते हैं जब तक हमारे अंदर एक नई चेतना का उदय नहीं हो जाता, अपनी समग्र सत्ता के विषय में सचेतन बनने की भावना जन्म नहीं ले लेती, और जीवन के सत्य को, उसके उद्गम को पाने के लिए, स्थायी सुख-शांति की प्राप्ति के. लिए, अभीप्सा की अग्नि प्रज्वलित नहीं हो जाती; हम उसकी प्राप्ति हित सर्वस्व की आहुति देने को तत्पर नहीं हो जाते।

एक दिन मैं गहन चिन्तन में डूबा हुआ था। मैंने मानव-जीवन का गंभीरतापूर्वक अवलोकन जारी रखा। एक आंतरिक प्रकाश मेरा पथ-प्रदर्शक था। "अंधकार से भरे भवन में खड़ा व्यक्ति दृष्टिहीन तो रहेगा ही ! देखने के लिए उसे भवन से बाहर, प्रकाश में आना होगा। अथवा भवन को प्रकाशमान करना होगा। अज्ञान है तो दुख भी रहेगा। अज्ञान में कष्ट पाना उतना ही स्वाभाविक है जितना कांटों में चलने से। मनुष्य को अपना मार्ग बदलना होगा और यह संभव है चेतना के परिवर्तन से; आत्मा की दिक् उद्घाटित होने से। मनुष्यों को अभीप्सा करनी होगी, जीवन का नया स्तर खोजना होगा। उस दिव्य पुरुष की शरण लेनी होगी, जो सदा उनका सहायक है। सृष्टि का पालक है, इसका रक्षक है।"

मैं चिन्तन से बाहर आया। मेरा हृदय आश्वस्त था। मैं निश्चयपूर्वक कुछ कह सकता था। विचारों में स्पष्टता की अनुभूति थी। मेरे चित्त में अभी भी उस चेतना की स्मृति, उसकी झलक थी, जिसमें उठ कर मनुष्य जीवन में खुलने वाले मार्गों पर मुस्कान के साथ आगे बढ़ सकते हैं। "जिनकी श्रद्धा अचल, अटूट, अडिग है, उनकी सहायता अवश्य होती है। सच्चे अभीप्सु के हृदय में भगवान अपना आसन बिछा लेते हैं। वे उसके मन से सोचते और उसकी दृष्टि से देखते हैं। उसके द्वारा संसार में अपना कार्य करते हैं।" वाग्धारा का प्रवाह जारी था। — "तब असंभव क्या.....?"

मनुष्यों की दयनीय दशा पर मैंने आँसू बहाये। प्रभु-द्वार खटखटाया। उनके चरणों में मस्तक रखा। पुकारें कीं, प्रार्थनाओं में अपने अंतर को उँडेला। सब प्रकार की शर्तें पूरी करने को, किसी प्रकार का भी मूल्य चुकाने को, वचनबद्ध हुआ। वर्ष बीतते गये। समय आगे बढ़ता गया। मेरी प्रार्थना जारी रही। भीतर पुकार तीव्रतर होती गई।

मैंने अनुभव किया कि एक विशेष प्रकार की चेतना में, विशेष मानसिक स्थिति में, विशेष आंतरिक भाव में, यह सब घटित होता है। चैतन्य-घन से प्रेरणा की बूंदें बरसती हैं, सिन्धु से लहरें-सी उठती हैं। आत्मा कुछ बोलती है। भीतर कहीं कोई गुनगुनाता है। धीरे-धीरे शब्दों का रूप वाक्य लेने लगे। प्रेरणा और अंतर्श्रवण का भेद मिटने लगा। साथ ही उन्हें लिखने की प्रेरणा ! अगर न लिखूँ तो अपराध-की-सी भावना, बेचैनी, घुटन-सी। लगे, कहीं कुछ गलत हो रहा है, और आश्चर्य ! कभी-कभी महीनों एक शब्द भी नहीं। मैंने उन्हें अंकित करना प्रारंभ किया। समय आया और मुझे तथ्य के विषय में अवगत कराया गया— यह सब मेरी प्रार्थना के प्रत्युत्तर में प्रदान किया जा रहा था। यह मेरा चिन्तन है, मनन है, एकाग्रता का परिणाम है। ऊर्ध्व चेतनाओं में विचरण, गहराइयों में गमन, मानव-जीवन-दर्पण का अवलोकन है।

इन निबंधों को लिखने का ढंग निराला है। कारण ये सब निबंध किसी लेखक के द्वारा, अथवा उस व्यक्ति के द्वारा नहीं लिखे गये हैं जिसमें लिखने की योग्यता या प्रतिभा हो; वस्तुतः प्रेरणाएँ हैं, जो जीवन के सामान्य काज-कर्म के क्रम में मुझे पकड़ लेती थीं और शब्दों में रूपायित करने के लिए प्रेरित-उत्साहित करती थीं, कभी-कभी दबाव भी डालती थीं। मैं इन्हें अपनी चिंतन-धारा में एक दृष्टिकोण के रूप में पाता था जो मुझे जगत और जीवन में उस रूप-विशेष को दर्शाता था, जिसकी अभिव्यक्ति ये शब्द हैं। वास्तव में चिन्तन-मनन करते हुए चेतना के जिस स्तर पर मैं पहुँच पाया हूँ, यह उसी का शब्द-चित्रांकन है। श्रीअरविन्द तथा श्रीमाताजी की शिक्षा में अवगाहन का फल है। उनकी शिक्षा-निधि में से प्राप्त शब्द-रत्न हैं।

इन प्रेरणाओं को अंकित करने का मेरा अभिप्राय सिर्फ इतना ही था कि जो आत्म-सत्य में नहीं जागे हैं, उन्हें जगा दिया जाये। जिनमें अभीप्सा नहीं है, उनमें उत्पन्न कर दी जाये। जिनकी आत्मा पर पर्दा छा गया है, वह हटा दिया जाये। व्यक्ति आत्मा को खोजे, उसमें निवास करे, जीवन-पथ पर उसके इंगित से चले। जीवन के रहस्यों को जाने, अपनी मूल सत्ता के सत्य को पहचाने, जीवन-स्वामी से उसका परिचय हो और वह उनको समर्पित हो कर जीवन यापन करे।

वह स्वर्णिम दिवस संसार शीघ्र ही देखेगा जब मानव मात्र जागेगा। आत्म-विकास के पथ पर बढ़ेगा। सामान्य स्तर से ऊपर उठेगा। उच्च चेतनाओं में विचरण करेगा। दिव्य जीवन में निवास को अपने लक्ष्य के रूप में चुनेगा। प्रभु को समग्र सत्ता का समर्पण उसका पथ होगा। अज्ञान का आवरण गिरेगा और सब ज्योतिर्मय हो उठेगा।

श्रीअरविन्द तथा श्रीमाताजी की शिक्षा में प्रदर्शित, उनके द्वारा निर्धारित लक्ष्य ही दिव्य जीवन की मेरी परिकल्पना है। उसी ओर चलने का, तथा साथ ही दूसरों को प्रेरित करने का मेरा यह प्रयास है, जिसे मैंने पुस्तक-रूप प्रदान किया है।

अध्यात्म मार्ग की शर्तों, विधि-विधानों, आनेवाली बाधाओं के विषय में भी अवगत कराने का प्रयास किया गया है। आगे जैसी जिसकी इच्छा। कर्म करने में सब स्वतंत्र हैं। चुनाव सबका अपना-अपना है।

२९-३-२००० सुखवीर आर्य

श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी





उद्बोधन

हे मानव ! प्रभु की प्यारी संतान ! जाग ! अंतश्चक्षु खोल ! अपनी चेतना का विकास कर। देख, एक देदीप्यमान दिव्य सूर्य के समान भागवत उपस्थिति सिंधु की भाँति सर्वत्र व्याप्त है। हम हर समय इसके अन्दर हैं। यह जगत अपने प्राणियों और वस्तुओं के साथ इसमें डूबा हुआ है, अपने हर कण में इसको धारण किये हुए है। यही हमारे और जगत के अस्तित्व का अस्तित्व है। यही सब का मूलभूत सत्य है, जीवन का जीवन, चेतना की चेतना है। हमारी आत्माएँ इसी के अंश हैं। सृष्टि इसी की आत्म-अभिव्यक्ति है। यहाँ जो है, सब इसी का विस्तार है। हमें चाहिए कि इसकी ओर उद्घाटित हों, इसके प्रति सचेतन बनें। इसे समर्पित हो कर, इसी की प्रसन्नता के लिए, संसार में निवास करें। यह दिव्य उपस्थिति हमें सब समय देख रही है। इसे परम पिता कहें या परमात्मा, चाहे जैसे संबोधित करें, सबका आदि मूल यही है। इसी के द्वारा सब चल रहा है, सब व्यवस्थित है और सब इसी की ओर जा रहा है, सब इसी से है, इसी में है, इसी का रूप है, यही है।

यह दिव्य उपस्थिति उस एक, अखंड, अद्वितीय पुरुष की है, जिसने इस अद्भुत जगत की रचना की है, इस अनुपम सृष्टि

का विस्तार किया है और इसे अपने हृदय में धारण किये इसके गन्तव्य की ओर, अर्थात् मूल उद्गम की ओर ले जा रहा है। यहाँ जो घटित हो रहा है सब के पीछे उसका हाथ है, सब उसकी चेतना के अंदर है, उसके लिए है। संसार की सब क्रियाओं एवं गतियों का मूल कारण एवं केंद्र वही है।

उसी से युक्त होने के लिए हमारी आत्माएँ हमें प्रेरित कर रही हैं। ये उसके प्रेम की प्यासी हैं, दर्शन की अभिलाषी हैं। उसके लिए, उसका हो कर जीने का स्वर्गिक स्वप्न इनके दिव्य नयनों में है। इसकी अभीप्सा इनके हृदय में है।

अतः हमें जागना चाहिए, आत्मा की इस अनुपम अलौकिक अभिलाषा को पूर्ण करना चाहिए। प्रभु-कृपा, उनकी सहायता हमारे साथ है, इस श्रद्धा और विश्वास के साथ कर्त्तव्य-पथ पर बढ़ना चाहिए।

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत"

उपनिषदें कहती हैं— जगत में और परम सत्ता में मौलिक अर्थात् तात्विक भेद नहीं है। भेद अभिव्यक्ति में आता है। अभिव्यक्ति बाह्य सत्य है । मूल सत्ता आंतरिक सत्य है, वही सद्वस्तु है। हम कैसे भी घुमा-फिरा कर कहें, अंत में इसी एक आधार बिंदु पर आते हैं, इसी श्रुति-उक्ति पर — 'यहाँ या वहाँ जो भी है, सब का आदि मूल एक है, सब उसी एक चरम अस्तित्व का विस्तार है, उसी का प्रकटीकरण है।

देव-मुहूर्त

हमारे सम्मुख नया क्षितिज खुल रहा है। नई उषा नवीन आँचल फैला रही है। स्वर्णिम रश्मियों के समूह से घिरे भगवान भास्कर रथारूढ़ हैं। पृथ्वी पर नई ज्योति, नई चेतना विकीर्ण करने के लिए सब प्रकार सुसज्जित हैं। अपूर्व, मंगलमय नवपावन प्रभात वसुंधरा पर पदार्पण कर रहा है। एक ओर अविद्या रूपी अंधकार धीरे- धीरे तिरोहित हो रहा है, दूसरी ओर अतिमानस की जीवंत ज्योति वातावरण को अधिकृत करती जा रही है, अपने विशाल प्रकाशमान पंखों में दिशाओं को समेट रही है। सभी कुछ एक जादूई दृश्य- सा है, विचित्र आविर्भाव-सा है, चमत्कार भरी घटना जैसा अप्रत्याशित, अतीन्द्रिय दर्शन है। सब ओर एक दिव्य प्रकाश धरती के हर कोने को स्पर्श कर रहा है।

इस मधुमय मंगल वेला में, हे मानव ! अपने बंद द्वारों को खोल और अपना कर्त्तव्य निर्धारित कर। स्मरण रख, सच्चे पुरुषार्थी के सहायक प्रभु होते हैं। वे तेरे साथ हैं, फिर तेरे लिए क्या कठिन है, क्या असंभव है ! निज जीवन में आत्म-परिपूर्णता, जग-जीवन में दिव्यता अपना लक्ष्य चुन। पृथ्वी पर जो कल तक असंभव था, आज इस देव-मुहूर्त में संभव है। श्रद्धावान बन। अपने हृदय और मन को उद्‌घाटित कर। एक अभूतपूर्व चेतना पृथ्वी पर अभिव्यक्त हो रही है, जो

व्यक्ति और जाति दोनों की सब प्रकार की समस्याओं का समाधान प्रदान करने में सुसमर्थ है। यह चेतना अतिमानसिक है जो मानव को अतिमानव में, एक देव-मानव में रूपांतरित करने में सब भाँति सक्षम है। अतः उठ और इसका स्वागत कर, इसे ग्रहण कर। तेरा जीवन उत्थान-लाभ करेगा, उसमें दिव्यता प्रकट होगी।



जो पूर्ण रूप से प्रभु के होते हैं प्रभु उनके हो जाते हैं।

जब हम प्रभु के हो जाते हैं तभी हम सही अर्थ में अपने लिए जीते हैं और अपने होते हैं।

जब तक अहंभाव है, हम समर्पण की परिभाषा नहीं समझ सकते। उसका मूल्य नहीं आंक सकते, उसका महत्व हमारी दृष्टि से ओझल रहता है।

पूर्ण समर्पित होने पर हम देखते हैं, उस स्थिति के आनंद की समानता संसार की कोई वस्तु नहीं कर सकती।

प्रभु को आत्म-समर्पण मानव-जीवन का सत्य और सार है, सृष्टि में सर्वोत्तम भाव है।

जागृति

हे अमरता के अभीप्सु ! परम,सत्य के पुजारी ! उठ ! शास्त्र अध्ययन में मन लगा। उस अमृतमय वाचा को हृदयंगम कर। तुझे पथ प्राप्त होगा। तू आत्म-चेतना में उठेगा। आत्म-सत्य में जागेगा। आत्म-उपलब्धि रूपी पीयूष-सिंधु पर तेरा अधिकार होगा।

तू शरीर रूपी इस पिंजरे में सोचने-विचारने वाला प्राणी मात्र नहीं है। तेरी इस वर्तमान नश्वर देह में एक अनश्वर सत्ता है, तेरे इस मृण्मय शरीर में अमर आत्मा का, एक दिव्य पुरुष का निवास है। वह तेरे अस्तित्व का सच्चा अस्तित्व है। उसे ढूंढ़। आंतरिक खोज को जीवन-लक्ष्य के रूप में चुन। अगर तू अपनी खोज में सच्चा रहेगा, अगर तेरी अभीप्सा में इंद्रियों की लालसा, प्राणों की चाह और मन की कामनाओं का मिश्रण नहीं है तो तू अवश्य सफल होगा और देखेगा कि यह अमर आत्मा, यह दिव्य पुरुष स्वयं तू ही है। इसे प्राप्त करने के पश्चात् तू असहाय-सा प्राणी होकर पृथ्वी पर नहीं भटकेगा। सब प्रकार की अकिंचनताएँ तेरे मन से झड़ जायेंगी। विचार तेरे अपने दिव्य स्वभाव के अनुरूप उठेंगे। इंद्रियाँ तेरा आदेश-पालन करेंगी। तेरा शरीर एक शुद्ध समर्पित यंत्र के रूप में कार्य करेगा। तू अपने आपको आज की भाँति अपनी प्रकृति के दास के रूप में नहीं वरन् इसके स्वामी के

रूप में पायेगा। एक बार जहाँ आत्मा का साक्षात् हुआ, अंतस्थ सत्ता से तादात्म्य स्थायी बना, तू क्षुद्र प्राणी की जगह अपने आपको भूमा, विराट, अनंत दिव्य पुरुष के रूप में अनुभव करेगा। वही तेरी सत्य और नित्य स्थिति है। और इसके साथ ही समझेगा कि यह सब जो तेरी असहाय अवस्था थी, केवल एक नाटक था। सृष्टि-मंच पर तेरा एक अभिनय था, जो तूने जग-स्वामी की प्रसन्नता के लिए स्वीकार किया था।





एक अखंड सत् आत्मा में हम सब एकत्व से बंधे हैं। वहाँ द्वि के लिए कोई स्थान नहीं, पृथक अस्तित्व नहीं — "स एव सर्वम्"। सब अस्तित्वों का अस्तित्व वही एक है, जीवन का जीवन, चेतना की चेतना है। उससे नीचे अभिव्यक्ति के स्तर पर जीव-जगत में भिन्नता है। हम सब का पृथक-पृथक अस्तित्व है। किन्तु हमारी सत्ता का मूल सत्य वही एक अखंड, अद्वितीय सत् सत्ता है। उससे तादात्म्य लाभ करना, जगत में जीव का चरम लक्ष्य है।

पुनर्मिलन

इस युग में आज एक बार फिर हम सब भगवान के कार्य के लिए एकत्र हुए हैं। अपने सब व्यक्तिगत स्वार्थों, मांगों और महत्वाकांक्षाओं को भूल कर हमें पूर्ण रूप से प्रभु का हो जाना है। जीवन उनके लिए जीना है। जो रूपांतर, जो उत्थान वे जगत में लाना चाह रहे हैं, उसमें सहयोग प्रदान करना है, उनका यंत्र बनना है। अतिमानसिक चेतना, पृथ्वी पर अवतरित हुई है, उसके लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना है। मानवता के लिए वे सब द्वार खोल देने हैं, जो उसके जीवन को दिव्य जीवन में रूपांतरित करने के लिए, अवतरित होती हुई दिव्य शक्ति के प्रवाह को रोक रहे हैं, मानस और अतिमानस के बीच का मार्ग अवरुद्ध कर रहे हैं।

यह सब संभव है। हम जगत में प्रभु के यंत्र बन सकते हैं। हमें चुना जा सकता है, अगर हम उच्च चेतना में निवास करें, हमारी दृष्टि आंतरिक सत्य पर आधारित हो, हमारी स्थिति एक समर्पित व्यक्ति की हो। अर्थात् जो हम हैं, जो हमारे पास है, जो हम होना चाहते हैं, वह सब प्रभु को निवेदित हो, उनके दिव्य चरणों में समर्पित हो। उनकी कृपा में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास से हमारा हृदय भरपूर हो।

हमारी खोज

हमें एक ऐसी चेतना को खोजना है जो हमारे बाह्य व्यक्तित्व को, हमारी सत्ता के आंतरिक व्यक्तित्व से जोड़ दे। हमारी प्रशंसनीय उपलब्धि तो वही होगी जिसमें हम अंहकार की इच्छा के स्थान पर अपनी आत्मा के संकल्प को चरितार्थ करना सीख लें। मानसिक तथा प्राणिक इच्छाओं के द्वारा चालित न होकर अन्तस्थ देव के इंगित पर चलें। हमारा जीवन आत्म-सत्य की अभिव्यक्ति का रूप धारण करे। चेतना के ऐसे स्तर की उपलब्धि जो हमें हमारे क्षुद्र, सीमित व्यक्तित्व से ऊपर उठाये और एक विशाल, दिव्य, आध्यात्मिक चेतना का सोमपान करने की सामर्थ्य प्रदान करे। जिस चेतना में, जिस स्थिति में, सत्ता के सभी अंग, चाहे उनमें से कोई कितना भी काला, गंदा, बहिर्मुखी और व्यसनी हो, अपनी अंध कलुषित सत्ता में कितना भी बंद हो, पशुता और आसुरिकता के भाव उसकी प्रकृति में कितनी भी गहरी जड़ जमाये हों; इन सब के होते हुए इन्हें आत्म-सत्य की ओर मोड़ दे तथा उद्घाटित कर दे, इनमें समर्पित होने की अभीप्सा जगा दे, जिससे कि ये उच्च चेतना के प्रभाव में रहें, उसमें ही आंतरिक सुख, आंतरिक संतुष्टि अनुभव करें।

संसार में मानव-जीवन का अर्थ है खोज। उस सृष्टिकर्ता की, परम पुरुष की खोज, जो इन वस्तुओं और प्राणियों की

रचना कर इनमें छिप गया है। मानव जीवन-रथ पर सारथि के रूप में स्थित है। एक सहायक, पथ-प्रदर्शक और रक्षक के रूप में उसके हृदय में विराजमान है। उस कृपा-सिंधु की खोज जो प्राणी मात्र का प्यारा है। इस सृष्टि को अपने हृदय में धारण किये है। धरती का कण-कण जिसे प्रिय है। इसे गोद में लेकर अपने आनंद-सिंधु की ओर लिये जा रहा है। मानव-आत्मा का सखा, उसका प्रेमी, उसका पिता, उसका उद्‌गम, अस्तित्व का अस्तित्व। जिसकी याद में वह व्याकुल रहती है, तड़पती है, आँसू बहाती है। जिससे मिलन ही धरा पर अवतरित होने का उसका दिव्य प्रयोजन है। जिसके तादात्म्य में उसे परम सुख, शांति एवं संतुष्टि प्राप्त होती है।



जगत में आत्मा से, आत्मा को, आत्मा के लिए, प्रेम करो। यह जगत आत्मामय है। आकारों के पीछे, इनके भीतर वह विद्यमान है। पदार्थों में इनकी सत्ता, चेतना और जीवन के रूप में वही है। वही हमारा सच्चा स्वरूप है। हमें उसकी खोज करनी है। उसे प्राप्त कर हम देखेंगे किं उसकी प्राप्ति हेतु जो तपस्या की, जो पुरुषार्थ किया वह सब इस अनुपम, अद्‌भुत दिव्य प्राप्ति की तुलना में कुछ नहीं था। हम अपनें आपको, अपने हृदय की गहनतम गहराई तक पूर्ण संतुष्ट अनुभव करेंगे। हमारा निवास आत्मा की मुक्तावस्था में होगा। संसार के रूपांतर में प्रभु-यंत्र बनने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

जीवन-लक्ष्य

एकांत स्थान में बैठ कर, गहराई में डूब कर, गंभीरतापूर्वक जीवन के लक्ष्य के विषय में चिंतन करें। हमें यह बात अच्छी तरह जान लेनी चाहिए कि संसार में जीवन का लक्ष्य, उसका एक मात्र प्रयोजन है — भगवान को पाना अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार करना। अपने हृदय-मंदिर में प्रवेश करना, अंतस्थ देव के साथ संबंध स्थापित करना, उन्हें सत्ता के स्वामी के रूप में प्रतिष्ठित करना। उन्हें ही समर्पित रह कर जीवन-यापन करना, उन्हीं का होकर जीना।

इस भाव में रहकर जो जीवन व्यतीत किया जाता है, उसमें ही आत्म-प्रगति, आत्म-विकास संभव होता है, सुख-शांति-मंगल बरसते हैं, भागवत कृपा प्राप्त होती है, प्रभु-आशीष मिलता है, जीवन का आंगन आत्मा के आलोक से आलोकित रहता है। इसके विपरीत, जो जीवन आत्मिक विधान के अनुसार व्यतीत नहीं किया जांता, उसमें न प्रकाश है, न चेतना, न दृष्टि, न मुक्ति।

अपनी सत्ता के विषय में अभी हम भ्रांति में. हैं, महा-अज्ञान में डूबे हैं। हमें इस अज्ञान से बाहर आना है और अपनी सत्ता के सत्य के प्रति सचेतन बनना है। अपनी सत्ता के सत्य को उपलब्ध कर हम देखेंगे कि हमारी व्यक्तिगत सत्ता का और विश्व सत्ता का सत्य एक और अभिन्न है।

इस समय हम अपने आपको शरीर और मन मानते हैं, इन्हें ही अपना आप समझते हैं, अपना सच्चा स्वरूप मान बैठे हैं; यह भ्रांति है। यह हमारी सत्ता का ऊपरी भाग है, हमारी बाह्य सत्ता मात्र है। शरीर और मन हमें यंत्र रूप में प्राप्त हुए हैं। इनका सच्चा चालक, प्रेरक भीतर बैठा है। वही हमारी सत्ता में, हमारे व्यक्तित्व में सच्चा व्यक्ति है। यह ईश्वर का अंश है और जन्म-जन्मान्तरों में भ्रमण करनेवाला शाश्वत यात्री है। हमारी बाह्य सत्ता में मनोमय, प्राणमय और अन्नमय- ये तीन पुरुष हैं, इनकी अपनी-अपनी प्रकृति है। अभी इन तीनों पुरुषों की गति-धारा बहिर्मुखी है, ये सांसारिक सुख भोगों में रस लेते हैं। जब इनकी गति अंतर्मुखी हो जाती है और ये समझ जाते हैं कि सच्चा सुख भीतर है, तब जीवन में उत्थान प्रारंभ हो जाता है। आत्मा की खोज हमारा प्रथम कर्म बन जाता है। उसकी प्राप्ति के लिए हम अपने सब सुखों की, अपनी सारी सत्ता की बलि देने के लिए तत्पर हो जाते हैं। एक ही शब्द, एक ही ध्वनि, एक ही संकल्प हमारे रोम-रोम में गुंजित रहता है— "मैं अपनी सत्ता के सत्य को पाकर ही रहूँगा और उसमें अपना निवास स्थायी बनाऊँगा।"

कोई भी, कितनी भी ऊँची सिद्धि, शक्ति अथवा उपलब्धि हो, मनुष्य में उसकी आत्मा उसका उपभोग मानव-कल्याण के लिए करती है। यह तो उसका मानसिक अहंकार है जो मुक्तावस्था को स्वयं भोगना चाहता है।

प्रभु-शरण

हमारे जीवन का और जगत के जीवन का आधार भगवान हैं। यह सब उन्हीं की देन है। मूल कारण वे ही हैं। भगवान ही हमारी आत्मा और जगत-आत्मा की मूल सत्ता हैं। अतः हमें हर वस्तु के लिए, हर सहायता के लिए उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। हर परिस्थिति में उनकी ही ओर मुड़ना, उनके होकर रहना, उनके आदेश का पालन करना चाहिए। दूसरी ओर, यह बाह्य व्यक्तित्व, यह यांत्रिक सत्ता हम नहीं हैं। हम आत्मा हैं। अतः आध्यात्मिक स्तर पर हम जो भी करते हैं, वही सही अर्थों में हमारे अपने लिए, हमारे सच्चे व्यक्तित्व के लिए होता है। वही स्थायी प्रगति और प्राप्ति है। अपने बाह्य व्यक्तित्व में रहते हुए, अहंकार से चालित हम यह सब करने में सफल नहीं हो सकते। हमें अंतस्थ देव की शरण अपनानी होगी। उन्हें समर्पित होकर जीवन जीना होगा। तभी हम अपने आत्म-सत्य के समीप हो सकते हैं। हमारा निवास उसमें संभव हो सकता है, जिसका व्यावहारिक रूप होगा अहमात्मक भाव का सर्वथा अभाव, इंद्रियों की दासता से स्वतंत्रता, मन के संकल्पों-विकल्पों का त्याग, कामनाओं की समाप्ति।

तब हम देखेंगे कि शाश्वत सत्ता हमें यंत्र बना कर जगत में छिपे अपने दिव्य उद्देश्य को, मानव-जीवन का रूपांतर करने के कार्य को पूर्ण करने लगी है।

अतिक्रमण अनिवार्य

हमें अपने आप का, अपनी सीमाओं और स्वभाव का अतिक्रमण करना होगा। पुराने अभ्यास और आदतों को, सांसारिक वस्तुओं को मूल्य प्रदान करने की मानसिक दृष्टि को पीछे छोड़ना होगा। मन तथा इंद्रियों की दुर्बलता से ऊपर उठना होगा। एक नये व्यक्तित्व में नये प्रकार का जीवन यापन करना सीखना होगा। मानों हमारा जीवन एक नये धरातल पर उठ गया हो, जहाँ हमारा दृष्टिकोण आत्म-दृष्टि पर आधारित है। हमारी चेतना अतिमानसिक चैतन्य से चमक उठी है।

यह सब करने की सामर्थ्य और इससे भी अधिक करने की संभावना हर मनुष्य में है। अगर हम भागवत कृपा को साथ लेकर, उसमें पूर्ण आस्था रखते हुए, पूर्ण सत्यनिष्ठ होकर चलें तो सत्ता के हर भाग में आत्म-परिपूर्णता लाभ करना अर्थात् उसे दिव्यता में रूपांतरित करना हमारे लिए सरल व स्वाभाविक हो जायेगा।

पृथ्वी पर भागवत यंत्र बनने के लिए दो शर्तें हैं— व्यक्ति-सीमाओं का अतिक्रमण तथा आत्मा के सत्य का अनुसरण।

सुनहरी कुंजी

भगवान को प्रेम करना मनुष्य के अंदर उसकी आत्मा का स्वाभाविक गुण है। उसकी अंतर्सत्ता का सुखद प्रवाह है। लेकिन भगवान को प्रेम करना अभी मानव-जीवन का व्यावहारिक तथ्य नहीं बन पाया। इसका कारण है, मनुष्य अपनी बाह्य और आंतरिक सत्ता में भेद नहीं कर पाये। वे सचेतन नहीं हैं और बाह्य सत्ता में निवास करते हैं। अपने बाह्य स्वरूप को अपनी पूरी सत्ता मानते हैं। वे अपनी सत्ता के इस अज्ञानमय स्वरूप से पूरी तरह संतुष्ट हैं। यही कारण है कि किसी प्रकार की खोज का प्रश्न उनके मन में नहीं उठता। अगर वे इस तथ्य के प्रति सचेतन हो जायें कि जिसे वे अपनी पूर्ण सत्ता समझते हैं वह केवल उनकी सत्ता का आंशिक, सतही भाग है और एक विशाल एवं अत्यंत महत्वपूर्ण भाग उनकी पहुँच के परे है, जिसके विषय में वे अभी सचेतन नहीं हैं, किंतु जिसे जानना, जिसमें निवास करना उनकी नियति है, उनके जीवन-लक्ष्य की सिद्धि में अनिवार्य शर्त है— यदि वे इसका मूल्य समझें, तो अवश्य इसकी प्राप्ति का प्रश्न उनके मन में उठेगा, हृदय में अभीप्सा जगेगी। यदि बाह्य सत्ता में मोह है, वस्तुओं के प्रति आकर्षण है, कुछ विशेष वस्तुओं के प्रति हम खिंचाव अनुभव करते हैं, उनको हम अपना बनाना चाहते हैं, तो सावधान ! समझ लें कि हमारे आध्यात्मिक भाग्य रूपी स्वर्णिम सूर्य के उदय होने में देर है।

भक्ति-भावना

प्रभु-चरणों में प्रीति की बात ही न्यारी है। व्यक्तित्व में कुछ भी अपने लिए नहीं रहता। सत्ता के किसी अंग पर अपना अधिकार ही नहीं। हम प्रभु के ऐसे हो जाते हैं, मानों उन्हें बिक गए। मानों किसी ने हमें उनकी भेंट चढ़ा दिया। हम पूर्ण समर्पित हो जाते हैं। सिवा प्रभु के और उनके प्रेम के, उनकी भक्ति और चिंतन के, उनके स्मरण के और कोई शब्द, कोई ध्वनि, कोई हलचल, कुछ भी, न सुनाई देता, न दिखायी। रोम-रोम उन्हें ही रटता है, उन्हीं की धुन में डूबा रहता है, प्रेम में विकल रहता है; उनके दर्शन की अभिलाषा, उनके आगमन की प्रतीक्षा, उनके प्रति प्रेम प्रकट करने की कल्पना— बस यही जीवन रह जाता है। उनके दर्शन और मिलन के चाव को छोड़ कर, इस आशा को तज कर, वहाँ दूसरा ऐसा कुछ नहीं रहता जो प्राणों को देह के साथ अटकाये रखने में समर्थ हो। इसी एक मिलन की आशा पर जीवन चलता है, प्राण टिके रहते हैं। धन्य है यह प्रेम, धन्य हैं ये प्रेमी। दोनों का नाता, दोनों की स्थिति अद्भुत है। दोनों एक दूसरे में निवास करते हैं। प्रभु-प्रेम वर्णनातीत है। वहाँ देह और गेह का भान केवल उतना मात्र रहता है, जितना जीवन रखने के लिए अनिवार्य होता है। बाकी सब प्रेम, प्रेम।

प्रभु-शरणागति

हे मानव ! प्रभु के स्वर्णिम पुष्प ! सच्चे सुख को, आत्मा के आनंद को अपने अंदर हृदय की गहराई में खोज ! वहाँ प्राप्त कर। अनंतता में प्रवेश का द्वार तेरा हृदय है। तत्पश्चात् दूसरों में, जगत में अनुभव करना संभव होगा। बाह्य सत्ता के पीछे हट कर भीतर पैठ ! मन के उस पार जा। इंद्रियों से ऊपर उठ। प्रकृति से अपने आपको पृथक कर। शांत-चित्त, एकाग्र-मन हो कर बैठ। पूर्ण निष्क्रिय, पूर्ण नीरव हो जा। कल्पना और संकल्प महान शक्तियाँ हैं, इनका प्रयोग कर। तुझे पथ मिलेगा, प्रकाश दिखायी देगा। धैर्यपूर्वक नियमित रूप से अभ्यास कर। चित्त की पूर्ण नीरवता से पहले प्रार्थना कर। प्रभु-चरणों में सिर झुका, उन्हें प्रेम-डोरी से बांध, अनन्य भक्त बन, विनयी हो, शिशु की भाँति हृदय खोल ! सब कुछ कह दे। हृदय-पुस्तिका का हर पृष्ठ उनके सम्मुख उघाड़। अपनी असमर्थता, अपनी अक्षमता उनसे कह, कुछ भी उनसे मत छिपा। तेरे गुण, तेरा स्वभाव, तेरा चरित्र वे जानते हैं। तेरे से भी कहीं अधिक अच्छी तरह जानते हैं। प्रभु तेरे जीवन-स्वामी हैं। उनके सम्मुख कभी झिझकना नहीं, हिचकिचाना नहीं। सीधे सरल भाव में शिशुवत सब परम पिता के पावन चरणों में अर्पित कर दे। अच्छा या बुरा, जैसा भी तू है, उन्हें पूर्ण रूपेण निवेदित हो। तेरे ऊपर कृपा बरसेगी। सौभाग्य उदय होगा, भविष्य उज्ज्वल होगा। तू उनकी

कृपा का पात्र बनेगा। वे तेरा संपूर्ण दायित्व अपने ऊपर ले लेंगे। शरण प्रदान करेंगे। तेरा जन्म और जीवन प्रभु के लिए होने से तू अपने आपको, प्रभु के प्रिय जनों में पायेगा। प्रभु तेरे होंगे, तू प्रभु का होगा, उनके यंत्र के रूप में जगत में कार्य करेगा। तेरी आत्मा तुझे आशीष प्रदान करेगी। तेरे जीवन में उसका आशीर्वाद फलेगा। जीवन-नैया की पतवार प्रभु स्वयं संभालेंगे, दिशा भी वे ही चुनेंगे, गंतव्य दिखायेंगे, मार्ग प्रशस्त करेंगे। तेरे जीवन-रथ का सारथ्य प्रभु स्वयं करेंगे और यह उनके लिए अति प्रसन्नता का विषय हुआ करता है, जिसे तेरे जैसे विरले, सरल-सीधे, समर्पित शिशु ही प्राप्त करते हैं।

हमने मन और इंद्रियों को अंतर्मुख नहीं किया, इसीलिए सच्चे सुख से दूर रहे।

चित्त को आंतरिक नीरवता में एकाग्र नहीं किया, इसीलिए प्रकृति से पृथक्करण संभव नहीं हुआ।

हृदय की गहराई में डुबकी नहीं लगायी; इसीलिए आत्म-दर्शन लाभ नहीं कर सके।

प्रभु को समर्पण नहीं किया, उनकी शरण ग्रहण नहीं की, इसीलिए जीवन असफल रहा।

हमारा प्रयास

जो आत्मा को पाना चाहते हैं, जिन्होंने अपने अंदर स्थित दिव्य पुरुष को जीवन-स्वामी के रूप में चुन लिया है, उन्हें प्रयास करना चाहिए कि वे सब समय अपनी सत्ता एवं चेतना के सर्वोच्च स्तर पर निवास करें। जब संसार में दूसरे सामान्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार करें, उस समय सचेतन रहें और उनके चाहने पर, उनके द्वारा आग्रह करने पर भी, जीवन के सामान्य स्तर पर न उतरें, निम्न चेतना में पतित न हों। उनके साथ खान-पान, राग-रंग, मन-बहलाव आदि में उसी प्रकार न डूबें, उसी प्रकार ग्रस्त न हों, जिस प्रकार वे सब होते हैं जिनके जीवन का लक्ष्य उनकी आत्मा के द्वारा निर्धारित नहीं है, जो उसके प्रति न सचेतन हैं, न समर्पित। जो कर्मों का चुनाव स्वयं करते हैं, अहंकार ही जिनमें प्रेरक और चालक है, जिन्हें कर्तव्य का ज्ञान नहीं है, कामनाओं की पूर्ति अथवा सुख-भोग ही जिनका जीवन है।

आत्मा के अन्वेषक होने के नाते हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने चेतना-स्तर से कभी पतित न हों। किसी भी मूल्य पर, कैसी भी विकट परिस्थिति क्यों न हो, उस बनाये रखने का सफल प्रयास सतत जारी रखें। अपनी चेतना को छितरने न दें, उसे एकत्रित, एकाग्र, अंतर्मुखी बनाये रखें, भागवत उपस्थिति की अनुभूति बनाये रखें, उससे घिरे रहें, आत्मा की शांति और समता, दृष्टि और पवित्रता से

क्षणभर के लिए भी बाहर न आयें, और जहाँ संभव हो, वहाँ दूसरों को, उनके उच्चतम स्तर पर उठाने का प्रयास करें।

सचेतनता योग है, सचेतनता पथ है, सचेतनता लक्ष्य है। अपने भीतर और बाहर, आत्मा के प्रति सचेतन होने का अर्थ है, सृष्टि के रहस्यों का ज्ञान, उनमें प्रवेश पाने की क्षमता। आत्मा की सचेतनता में सृष्टि-चक्र घूमता है, उसी के द्वारा यह व्यवस्थित है। आत्मा की शक्ति, उसकी चेतना, उसकी सचेतनता एक और अभिन्न हैं।

प्रभु को पाना उतना कठिन नहीं है जितना हम समझते हैं। लेकिन जब तक हमारी चेतना बहिर्मुखी है, अवश्य यह कार्य कठिन है। क्योंकि वस्तुओं का सत्य उनके पीछे, भीतर है, ऊपरी सतह पर नहीं। अतः जब तक हम अंतर्मुखता का भाव नहीं अपना लेते, एक अति तीव्र एकाग्रता के द्वारा सतही जीवन के पीछे हट कर , वस्तुओं के भीतर प्रवेश करने में सफल नहीं हो जाते, तब तक सत्य के समीप नहीं पहुँच सकते। एक बार जब सत्ता का सत्य प्राप्त हो जाता है, हमारी दृष्टि खुल जाती है, हम सर्वत्र उसे ही देखते हैं, उससे ही व्यवहार करते, उसमें ही निवास करते हैं।

अतिमानस की ओर

यह सृष्टि प्रभु की आत्म-अभिव्यक्ति है। अपनी अभिव्यक्ति में वे गुप्त रूप से निवास करते हैं। इसमें निवास करते हुए, इसे पुनः आत्मा की ओर, इसके उद्गम की ओर ले जा रहे हैं। क्योंकि यह सृष्टि आत्मा का प्रकटीकरण है, आत्मा इसमें हैं, अतः यह संभव है कि सृष्टि भी अपने विकास-क्रम में वर्द्धमान होती हुई, एक दिन आत्मा को अपने अंदर अर्थात् मनुष्य में, उसके जीवन में प्रकट कर सके और आत्मा की दिव्यता यहाँ मानव-जीवन में प्रवाहित हो उठे। श्रीअरविन्द की क्रांत दृष्टि में यह एक ध्रुव सत्य है, अवश्यंभावी घटना है। उनका अनुभवसिद्ध कथन है कि अतिमानसिक ज्योति की सहायता से भौतिक जीवन को दिव्य जीवन में रूपांतरित किया जा सकता है। मनुष्य की संपूर्ण सत्ता का, उसकी प्रकृति का रूपांतर, उसका दिव्यीकरण संभव है। अतिमानस का अवतरण श्रीअरविन्द के जीवन-काल में प्रारंभ हो चुका था। वह जगत में क्रियाशील है और मनुष्य को उसके रूपांतर के लिए तैयार कर रहा है। अपनी चेतना के विकास में जो मनुष्य अतिमानसिक चेतना-स्तर पर उठ सकेंगे, उसका अवतरण अपने मन, प्राण, शरीर में संभव बना सकेंगे, रूपांतर को अपनी सत्ता में सिद्ध कर सकेंगे, उन्हें श्रीअरविन्द ने अतिमानव कहा है। आनेवाली शताब्दियों में, अतिमानवों की जाति, कम से कम एक समूह को, पृथ्वी पर मनुष्यों के बीच

में जगत अवश्य देखेगा। अतिमानव मनुष्य से उतना ही श्रेष्ठ होगा जितना मनुष्य पशु से है। अतिमानव मनुष्य की भाँति अज्ञानजनित सीमित मानसिक चेतना में निवास नहीं करेगा। विज्ञानमयी सर्वज्ञ चेतना उसकी स्वाभाविक स्थिति होगी।

अगर हमने अपनी सीमाओं का अतिक्रमण न किया तो अतिमानव नहीं बन सकेंगे।

अगर अतिमानसिक ज्योति को शारीरिक स्तर तक न उतारा, देह-कोशिकाएँ सचेतन न हुईं, तो शारीरिक रूपांतर संभव नहीं होगा। हम पार्थिव अमरता-लाभ नहीं कर सकेंगे। मृत्यु बनी रहेगी, विघटन जारी रहेगा।

मानव शरीर की अमरता को सिद्ध करने के लिए सारी सत्ता का, शरीर का भी दिव्यीकरण अनिवार्य है। अतिमानसिक दिव्यता का अवतरण शरीर सहित सारी सत्ता में सिद्ध करने के पश्चात् यह संभव हो सकेगा।

अगर मानवता को अतिमानवता में उठना है तो उसे अपनी चेतना में उत्थान लाना होगा, अतिमानसिक स्तर पर उठना होगा, उसमें रूपांतरित होना होगा।

वरदान -- (१)

अपने आरोहण में आध्यात्मिक व्यक्ति ने आत्मा की उच्चतम ऊँचाइयों में अपना प्रवेश संभव बनाया। सर्वोच्च शिखर पर खड़ा होकर उसने देखा-- चराचर विश्व आत्मा की अभिव्यक्ति है। जड़रूप भासित होनेवाला जगत चेतना का ही अपना एक स्वरूप है। उसके हृदय में प्रश्न उठा, 'चेतन आत्मा ने जड़ का रूप लिया, क्या जड़ चेतन के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकता !' उसने खोज की। लेकिन उसे सृष्टि में कोई ऐसा तत्व, कोई ऐसा पदार्थ नजर नहीं आया जो जड़ को चेतन में रूपांतरित कर दे।

अब पृथ्वी को वरदान प्राप्त हुआ है। अतिमानस-चेतना पृथ्वी पर अवतरित हुई है। जड़ पदार्थ को उसकी मूल सत्ता में या ऐसे कहें, शरीर को आत्मा की दिव्यता में रूपांतरित करना अतिमानस की सहज, स्वाभाविक क्षमताओं में है। अतिमानस भागवत चेतना है। एक सत्य चेतना है। श्रीअरविन्द और श्रीमाताजी के संयुक्त पुरुषार्थ के द्वारा अतिमानस का अवतरण पृथ्वी पर संभव हुआ है। और यहाँ मानव को तथा उसके जीवन को आत्मा की दिव्यता में रूपांतरित करने में संलग्न है।

---

(२)

एक नई अपूर्व संसिद्धि का वरदान हमें प्राप्त होने जा रहा है। मनुष्य की संपूर्ण सत्ता का, उसके शरीर का भी दिव्यीकरण संभव है। उसके जीवन-स्तर का आत्म-दिव्यता में उत्थान अब केवल एक संभावना ही नहीं है, यह एक ध्रुव सत्य है। सृष्टि के विकास-क्रम में अवश्यंभावी अगला चरण है।

भू-जीवन में आत्म-दिव्यता के प्रवाह का बांध उच्च स्तरों पर खुल चुका है। आगामी जगत इसे स्पष्ट देखेगा।

आज धरती पर एक नया दर्शन सुलभ है। मानव देव-मानव में पूर्णतः रूपांतरित हो सकता है। आत्मा की दिव्यता में, उसका दिव्यीकरण संभव है। एक ओर जहाँ हमारी व्यक्तिगत सीमित चेतना विश्व-पुरुष के साथ तादात्म्य लाभ कर सकती है, और हमारी आत्मा अपने मूल उद्‌गम के साथ एकत्व लाभ कर सकती है, वहीं दूसरी ओर, इस एकत्व में हमारे यंत्रों की चेतना भी भाग ले सकती है। इसके साथ ही आत्मा की दिव्यता में मनोमय, प्राणमय पुरुष की भाँति, शरीर भी रूपांतरित अर्थात् दिव्यीकरण लाभ कर सकता है।

"अतिमानस एक सत्य है और उसका आविर्भाव वस्तुओं की प्रकृति में अवश्यंभावी है।" — *श्रीअरविन्द*

दिव्य देन

सृष्टि में अतिमानस तत्त्व का आविर्भाव हो चुका है और मानव-जीवन को, उसकी सत्ता को रूपांतरित करने में संलग्न है। आज मनुष्य की संपूर्ण सत्ता का, उसके निम्नतम भाग, शरीर का भी दिव्यीकरण संभव ही नहीं, एक अवश्यंभावी घटना है। कल तक यह असंभव था। कारण अबसे पहले, अतिमानस तत्त्व पृथ्वी के वातावरण में सुलभ नहीं था, इसका अवतरण नहीं हुआ था। अब इसका अवतरण हो चुका है। अतिमानस पार्थिव वातावरण में विद्यमान है, यहाँ क्रियाशील है। जो इसकी ओर उद्घाटित होंगे, इसे ग्रहण कर सकते हैं। मानव में अतिमानसिक चेतना का अवतरण उसे अहंमय मानसिक चेतना से ऊपर उठा देता है। प्रकृति भागवत सत्य की ओर खुल जाती है। हम अज्ञान की परिधि को पार कर जाते हैं। विश्व चेतना में हमारा प्रवेश स्थायी हो जाता है। विश्व के पीछे क्रियाशील भागवत संकल्प का हमें स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। हम अपनी सत्ता और जगत सत्ता के सच्चे स्वरूप के विषय में सचेतन हो जाते हैं। मुक्त और सीमाहीन अनंत चेतना में, जो जगत को अपने अंदर धारण किये है, निवास करना हमारे लिए स्वाभाविक हो जाता है। प्रभु को समर्पित रहते हुए, उनके विधान के अनुसार जीवन-यापन करना हमारी सहज प्रवृत्ति बन जाती है। हम उनके होकर जगत में उनके दिव्य संकल्पों को चरितार्थ करते हैं।

मानव का अतिमानसिक चेतना में उत्थान, उसके जीवन का रूपांतर, उसकी पूर्ण सत्ता का दिव्यीकरण, भौतिक तत्व की अमरता, मृत्यु और जरा-व्याधि आदि से पूर्णतः मुक्ति—ये श्रीअरविन्द के योग की सिद्धियाँ हैं। मन, प्राण और शरीर सहित रूपांतरित मनुष्य को श्रीअरविन्द ने अतिमानव कहा है। जो मनुष्य से विकसित होकर अपनी एक विशिष्ट जाति के रूप में मनुष्यों से व्यवहार करता हुआ, उनकी समस्याएँ हल करता हुआ, एक सहायक की भाँति, पथ-प्रदर्शक की भाँति, पृथ्वी पर निवास करेगा। वह स्वर्णिम युग होगा जो धरती की अवश्यंभावी नियति है।

निम्नता घुटन है, उच्चता आनन्द है।
लघुता में चुभन है, विशालता में शांति है।
निम्नता विष के घूंट के समान है, उच्चता अमृत समान।
लघुता कारागार है, विशालता मुक्ति प्रदान करती है।
विचारों में उच्चता, दृष्टि में विशालता, संकल्प में दृढ़ता व्यवहार में सत्यता, मानव मात्र के प्रति प्रेम, पृथ्वी पर भागवत यंत्र होकर जीवन-यापन करने के लिए इन गुणों का हमारे स्वभाव में होना अनिवार्य है।

अभीप्सा जगायें

यदि हम जीवन को गंभीरतापूर्वक लें, इसका मूल्य समझें, जो दिव्य वस्तुएँ और उपलब्धियाँ हमें जीवन प्रदान कर सकता है, उनपर विचार करें, उनका महत्व समझें, अपने वर्तमान अहं-प्रेरित, मन और इंद्रियों से चालित, जीवन की निरर्थकता को अनुभव कर सकें तो कोई कारण नहीं कि हमारे अंदर उच्च जीवन के लिए अभीप्सा न जगे। किसे सुख-शांति नहीं चाहिए, किसे प्रकाशपूर्ण जीवन अच्छा नहीं लगता? कौन चाहेगा पथ पर भटकना? किसे सीधा गंतव्य पर पहुँचना अखरता है? हम कितना भी भोगों में डूबें, कितना भी इच्छाओं की पूर्ति में व्यस्त रहें, महत्वाकांक्षाओं में ग्रस्त हो जायें; जैसे ही हम इस व्यस्तता से पीछे हटते हैं, इससे बाहर आते हैं, थकावट और क्लांति की घड़ियों में चुपचाप बैठते हैं, तो हमें कोई आ घेरता है, झकझोरता है, उलाहने देता है, हमारे ऊपर व्यंग कसता है, प्रश्न पर प्रश्न करता है, हमें हमारे वर्तमान जीवन की अर्थहीनता को, इसकी निस्सारता को दर्शाता है। यह हमारा चैत्य पुरुष होता है, जो हमारा जीवन-स्वामी है और हमारे अंदर बाह्य सत्ता के पीछे निवास करता है। सभी दिव्य गुण इसके स्वभाव में पाये जाते हैं। इसमें बहुत-सी विशिष्टताएँ हैं। उनमें से एक यह भी है कि यह कभी सोता नहीं, सदा सचेत रहता है और हमें भी सदैव जीवन में जाग्रत तथा कर्तव्य के प्रति उद्यत देखना चाहता है। यह स्वयं सचेतन

है और हमें भी सत्ता के हर स्तर पर सचेतन बनाना चाहता है। यह न केवल हमारा जीवन-स्वामी है वरन् हमारा सच्चा व्यक्तित्व भी है। जीवन में हमारा शुभाकांक्षी, सहायक और पथ-प्रदर्शक है। हमें हमारी अज्ञानमय, असहाय स्थिति से ऊपर उठाना और एक आत्म-प्रकाश से परिपूर्ण, आत्म-सत्य से ओत-प्रोत, प्रभु के प्रति समर्पित जीवन में प्रतिष्ठित करना इसका स्वाभाविक कर्म है।

चैत्य पुरुष सृष्टि में अभीप्सा का स्वरूप है, सत्यता की मूर्ति है, प्रेम का पुजारी है, आत्मा का अन्वेषक है, भव-सिंधु में शाश्वत यात्री है। सत्य, प्रेम तथा न्याय की तिरंगी ध्वजा धरती पर फहरानेवाला, शाश्वत योद्धा है। भू पर स्वर्ग-स्थापना के अभियान का पुरोधा है। एक पूर्ण मानव का स्वप्न अपने नयनों में लिये, धरती पर दिव्य जीवन की कल्पना अपने हृदय में संजोये, हमारा चैत्य पुरुष जग-रूपांतर के अभियान में अपने सर्वस्व की आहुति देने के लिए अंतर्बलिवेदी पर खड़ा है। हे अहंकार की परिधि में बंद मानव ! बाहर आ और अपना सहयोग प्रदान कर। तेरा जीवन कृतार्थ है।

हे मानव ! देख, यह सृष्टि एक अखंड, अद्वितीय पुरुष का विस्तार है। उसकी आत्म-अभिव्यक्ति है। सब रूप उसी के हैं। यहाँ उसके सिवाय अन्य कुछ नहीं। अतः वस्तुओं और प्राणियों को स्पर्श करने से पहले एक बार भली प्रकार सोच। उनके साथ व्यवहार करते हुए सचेतन रह।

अभीप्सा का स्वरूप

आत्म-साक्षात्कार का मूल्य और महत्व हमारी दृष्टि में इतना बढ़ जाना चाहिए कि वही जीवन का एक मात्र लक्ष्य, एक मात्र प्राप्तव्य हो जाये। हर कर्म, हर विचार उसी ओर प्रवाहित हो। हृदय के भावों में, मन की चेष्टाओं में, प्राण और इंद्रियों के आवेगों में, अहंकार के प्रयासों में वही छाया रहे, उसी का स्वरूप झलकता हो, उसी की प्यास प्रकट होती हो, उसी की तड़प, उसी के लिए व्याकुलता उभरती हो। सारी सत्ता आहुति-स्वरूप बनकर मानों आत्म-वेदी को अर्पित हो गई, आत्म-अग्नि में समा गई। अपना कहने को, अपने लिए जीने को कुछ न रहे, सब उस अलभ्य, देव-दुर्लभ, मन के लिए अप्राप्य, दिव्य वस्तु के लिए, उसकी प्राप्ति को संभव बनाने के लिए कृत-संकल्प हो उठे। अहंकार की तृप्ति के लिए, वासना की पूर्ति के लिए, इंद्रियों के सुख के लिए सत्ता का कोई अंग प्रत्युत्तर न दे। कण-कण, कोना-कोना आत्मा को पाने की, आत्म-रूप हो जाने की अभीप्सा की अग्नि का रूप हो, उसमें परिवर्तित हो जाये। हमारे हृदय की वेदना इतनी बढ़ जानी चाहिये कि दिन में हम जो भी करें, हर कर्म के प्रारंभ में, उसके मध्य में, उसके अंत में हमारा ध्यान, हमारा मन उसी ओर खिंचता रहे। सोने से पहले हम उसी चिंतन में डूबे रहें। रात्रि में उसकी याद हमें सताती रहे, हमारी नींद को बार-बार तोड़ती रहे। सुबह होते ही हम उसी संकल्प

के साथ उठें और उसकी पूर्ति में संलग्न हो जायें। हर कर्म में, भोजन, स्नान, संभाषण आदि में भी हम उसी संकल्प के प्रभाव में रहें। हमारा जीवन अपनी छोटी से छोटी घटनाओं में भी, सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रियाओं में भी, उसी एक लक्ष्य के लिए बढ़ती हुई हमारी अभीप्सा की अभिव्यक्ति हो। तभी यह महान कार्य संभव होता है। एक अथक परिश्रम, एक देवोपम पुरुषार्थ, धरित्री के समान धैर्य, साहस से भरपूर एक शूरवीर का-सा हृदय, शिशु-सी सरलता, जल-सी निर्मलता, माता-सी सहनशीलता, वे गुण हैं जो साक्षात्कार में अनिवार्य हैं।

हे प्रभो ! आत्मा की भूख भरी तड़पन, हृदय की चिर तृषित प्यास, प्राणों की दर्द भरी आह, और कितने दिन ? हे प्रभो ! एक-एक करके दिन बीत रहे हैं। कब अपने इस अबोध शिशु पर प्रसन्न होओगे ! कब आत्म-दर्शन होगा ! आप जानते हैं असह्य है यह वर्तमान जीवन, जिसे मैं अपने ढंग से जी रहा हूँ। असह्य है यह दूरी। यह पर्दा। यह अंधकार। अपने स्वरूप के प्रति यह भ्रांत धारणा। कब तक मैं इस शरीर और मन को अपना सच्चा स्वरूप मानता रहूँगा ! हे प्रभो ! हे दयानिधे ! कृपा करो। सत्ता के सत्य में मेरा निवास संभव बनाओ। सच्चे स्वरूप में उठाओ। मुझे स्वीकार करो। मैं आप की शरण में हूँ।

महत्कर्म

जीवन में सबसे महान और महत्वपूर्ण कर्म है भगवान की खोज, उनकी प्राप्ति, उनमें निवास तथा जीवन में उनके संकल्प की अभिव्यक्ति।

अपनी इस खोज में हमें अपने चैत्य पुरुष को आगे रख कर ही बढ़ना चाहिए। अन्यथा हम आत्मा की निष्क्रिय अवस्था में पहुँच जायेंगे। मन की एकाग्रता के द्वारा व्यक्तिगत सत्ता के पीछे हट कर निष्क्रिय आत्मा में निवास करना, वहाँ परम शांति में डूबे रहना, श्रीअरविंद के योग का लक्ष्य नहीं है। कारण, निष्क्रिय आत्मा में निवास करने से हम जीवन का रूपांतर, उसका दिव्यीकरण नहीं कर सकते, जो कि उनके योग का लक्ष्य है। व्यक्ति और जीवन दोनों का दिव्यीकरण इस योग की विशेषता है और उसके लिए सगुण आत्मा की अनुभूति आवश्यक है। तभी हम अपने जीवन में, अपनी सत्ता के अंगों में रूपांतर ला सकते हैं। जगत में यह रूपांतर अथवा दिव्यीकरण, जिस शक्ति के द्वारा संभव होगा, श्रीअरविंद ने उसे अतिमानस नाम प्रदान किया है। अतिमानस एक भागवत चेतना है, जिसका अवतरण पृथ्वी पर हो चुका है और व्यक्ति तथा उसके जीवन को रूपांतरित करने में संलग्न है। जो भी चाहे, इस चेतना की ओर उद्घाटित हो सकता है और आवश्यक सहायता तथा पथ-प्रदर्शन प्राप्त कर सकता है।

सहायक बनें

आत्म-उपलब्धि, आत्म-विकास हम सब चाहते हैं। अतिमानवता में उत्थान की अभीप्सा भी हम सबके अंदर है। आत्म-परिपूर्णता को अपनी सत्ता में, जीवन में और जगत में सिद्ध करने की अभिलाषा भी हम सबके हृदय में है। लेकिन हममें से कुछ हैं जो ऐसा समझते हैं कि जिस प्रकार का जीवन लेकर वे चल रहे हैं, जिसमें मन की कामनाएँ, प्राणिक आवेग और इंद्रियों की इच्छाएँ प्रमुख हैं; जो जीवन आंतरिक सत्य से दूर तथा बाह्य यंत्रों की मांगों से भरपूर है-- उसमें बिना परिवर्तन लाये, उसके वर्तमान स्वरूप को ज्यों का त्यों रखते हुए--गंतव्य प्राप्त कर लेंगे। यह हमारी भ्रांत धारणा है।

नई चेतना, अतिमानसिक चेतना, जो जगत में अवतरित हुई है और इसे एक महान परिवर्तन के लिए तैयार कर रही है, हमारी सत्ता के हर स्तर पर, व्यक्ति-चेतना के पूरे परिवर्तन की मांग करती है। आंतरिक और बाह्य व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से एक दिव्य व्यक्तित्व में उत्थान देखना चाहती है। अंतर्प्रेरित जीवन की अनिवार्यता पर बल देती है। हमें मन से परे जाकर आत्मा की निर्भ्रांत दृष्टि प्राप्त करनी होगी, जो जीवन में हर प्रकार की क्षुद्रता का, सीमाओं का, अहंकारपूर्ण दावों का पूर्णतः बहिष्कार करती है और निम्न स्तरों की स्वभावजनित दुर्बलताओं के साथ समझौते को अस्वीकार करती है। तभी हम अपने अंदर और जगत के अंदर आवश्यक

अतिमानसिक रूपांतर ला सकेंगे। आत्मिक वैभव को, आत्मिक शांति को स्थायी रूप से स्थापित करने में सफल हो सकेंगे।

हमारी चेतना में यह परिवर्तन, जीवन-स्तर में यह उत्थान, आंतरिक व्यक्तित्व पर आधारित यह निर्भ्रांत दृष्टि एक ऐसी आध्यात्मिक स्थिति है जिसकी प्राप्ति अपने आप में पृथ्वी पर मानव-जीवन के रूपांतर में एक सहायता होगी। जिसकी मांग श्रीमाताजी ने इस या उस रूप में कितनी ही बार अपनी वार्त्ताओं में की है। अगर हम विषय की गहनता को समझते हुए पूर्ण सत्यनिष्ठ भाव में, इस ओर प्रेरित हो जायें तो इसमें संदेह नहीं कि हम उनकी कृपा के पात्र बनने के अधिकारी होंगे। श्रीमाताजी कहती हैं— 'विश्व एक महान परिवर्तन के लिए तैयार हो रहा है। क्या तुम सहायक बनोगे ?'

आध्यात्मिक अथवा दिव्य जीवन की पहली शर्त है— ईश्वर को पूर्ण समर्पित रहें, जो ईश्वर चाहें वही करें, उनके ढंग से करें। उनका विधान, उनका संकल्प, उनका प्रभाव, उनकी प्रेरणा ही जीवन का स्वरूप हो। दूसरे शब्दों में, आत्मा में निवास करना, उसी से प्रेरित पथ पर चलना; मन, वाणी और कर्म के द्वारा उसे ही अभिव्यक्त करना।

नवीन व्यक्तित्व

अपनी वार्त्ताओं में श्रीमाताजी हमसे जो मांग करती हैं, आज संसार को जिस चीज की आवश्यकता है, वह है एक नया व्यक्ति, एक नये प्रकार का व्यक्तित्व, जो नई चेतना के प्रति उद्घाटित हो, नई चेतना की दृष्टि से देखे, उसी के द्वारा सोचे-विचारे और जगत में व्यवहार करे। वस्तुओं और घटनाओं के आंशिक सत्य से, उनके सतही रूप से, बाह्य विवरण से संतुष्ट न हो। नये क्षितिजों की खोज में, नये अभियानों में, जिसका स्वाभाविक चाव हो। जिसकी प्रकृति में अहंकार, उसकी ग्रंथियाँ, हठ और पेंच न हों। जैसा अंदर वैसा बाहर, मानों एक सरल-सीधा शिशु हो। ऐसे व्यक्ति को यह नई चेतना चुनती और अपना यंत्र बनाती है। यह नई चेतना अतिमानसिक चेतना है। श्रीअरविंद तथा श्रीमाताजी की संयुक्त तपस्या से इसका अवतरण पृथ्वी पर संभव हुआ है और मनुष्य तथा उसके जीवन को रूपांतरित करने में संलग्न है।

इस नई चेतना में जगत माया नहीं, आत्मा की अभिव्यक्ति दिखाई देता है। जीवन का अभिप्राय भोग नहीं, आत्म-विकास है। उसका लक्ष्य इच्छाओं की पूर्ति नहीं, अंतस्थ आत्मा की प्राप्ति है। जीवन-पथ के कष्टों को देख कर घबराना अथवा उसे त्यागना नहीं, वरन् त्याग की भावना के स्थान पर उसे परिवर्तित करने का भाव, ऊँचे स्तर पर उठाने का संकल्प,

अपने अंदर जगाना है। सांसारिक जीवन की क्षणभंगुरता, उसके नियमों की कठोरता देख कर पलायन अथवा संन्यास का भाव अपनाना नहीं, कारण, अगर हम जीवन-क्षेत्र को इस प्रकार छोड़ देते हैं, तो इसका अर्थ होता है, अज्ञान और अंधकार की शक्तियों के लिए, उनके शासन के लिए, उन्हें सुविधा प्रदान करना, उन्हें क्षेत्र सौंप देना, जहाँ वे स्वतंत्रतापूर्वक अपनी मनमानी कर सकें और पार्थिव वातावरण को बीभत्स बनाने में सफल हो सकें। इसके विपरीत इसे दिव्य बनाने का प्रयास करना है। इसमें उच्च चेतनाओं का अवतरण संभव बनाना है और इसके लिए यदि आवश्यक हो तो हमें सब प्रकार का बलिदान करने के लिए तत्पर रहना है। यही वह है जिसकी मांग नई चेतना हमसे कर रही है। श्रीमाताजी के शब्दों का यही भाव है।

हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि जीवन, जीवन-स्वामी का है। उनका आदेश-पालन करना ही हमारा कर्तव्य है। हमारा जीवन उनके संकल्प की अभिव्यक्ति होना चाहिए। तभी जीवन में सुख-शांति, आंतरिक और बाह्य समृद्धि, आत्म-प्राप्ति और आत्म-परिपूर्णता रूपी स्वर्णिम फल प्राप्त होगा। तभी जीवन का यह वर्तमान अपूर्ण तथा अज्ञान जनित स्वरूप रूपांतरित होकर आत्मा की दिव्यता से ओत-प्रोत हो सकेगा।

पिता-पुत्र समान

इस धरती पर जीवन के कुछ नियम हैं। जीवन जीने की कला भी सीधी, सरल, सामान्य-सी है। जो जहाँ है उसे उससे आगे बढ़ना होगा, उससे ऊपर उठना होगा। जीवन भगवान की देन है, अतः उन्हें समर्पित होना ही चाहिए । जो भी कदम उठायें, जब-जब दिशा बदलें, जीवन-स्वामी की अनुमति से करें। हम भगवान की रचना हैं, अतः उनकी प्रसन्नता हमारा प्रथम कर्तव्य है। भगवान हमें हमारे मानव-स्तर से ऊपर देखना चाहते हैं। वे चाहते हैं, हम उनकी दिव्यता में रूपांतरित हों, उनकी अनंतता में निवास करें। जैसे हर पिता पुत्र को उन्नत एवं सुखी देखना चाहता है, ऐसे ही जगत-पिता भी हमें एक उच्च एवं मुक्त चेतना में निवास करते हुए देखना चाहते हैं। जिन्होंने अपनी मन-सीमा का अतिक्रमण किया है, उन सब का कथन है कि इस सृष्टि का मूल एक अखंड, अद्वितीय, अनंत सत् है जो दिव्य है, आनंदमय है और एक दिन यहाँ सब अपने मूल स्वरूप में रूपांतरित हो जायेगा। इस संकल्प को लेकर भगवान सृष्टि के कण-कण में विराजमान हैं और जगत में इसे चरितार्थ करने का सफल प्रयास कर रहे हैं। यह सृष्टि के आदि और अंत की आश्चर्यमय गोपन कथा है।

यह रूपांतरण अतिमानसिक चेतना-शक्ति के द्वारा संभव होगा। अतिमानस पृथ्वी पर अवतरित हो चुका है, यहाँ

क्रियाशील है और एक अंतर्वेग के रूप में जगत को तैयार कर रहा है।

जगत अपने आप में एक विकासोन्मुखी सत्ता की अभिव्यक्ति है। इसका मूल दिव्य है, इसीलिए एक दिन सब दिव्यता में—जो कि इसमें छिपी है, इसमें निहित है—रूपांतरित हो जायेगा। यह कथन एक संभावना के रूप में हम यहाँ प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। परम चेतना के अतिमानसिक स्तरों पर यह स्पष्ट रूप से देखा जा चुका है। श्रीअरविंद इसकी घोषणा कर चुके हैं। यह उनका अनुभवसिद्ध कथन है।

मन का शांत एवं स्थिर होना भी पहली आवश्यकताओं में है, मन की पूर्ण निश्चल नीरवता के बिना हम अपनी सत्ता की गहराई में नहीं जा सकते। जब तक मन अहंकार के वशीभूत है, राग-द्वेष में फँसा है, इंद्रियों के विषयों में रमण करता है, तब तक शांत नहीं हो सकता। इंद्रियों के विषय अभ्यासवश उसे खींचते रहेंगे। मन को सब व्यसनों और विषयों से मुक्त होना होगा अर्थात् ऊपर उठना होगा। तभी वह आत्मा के संपर्क के योग्य होता है। आज जैसा है, वही रहते हुए वह कभी उस गहराई में नहीं पहुँच सकता, जहाँ हमारी आत्मा निवास करती है। उसके आलोक को पाना, उससे आलोकित होना तो दूर की बात है।

मूल्य-परिवर्तन

अगर तू रूपांतर का अभिलाषी है, तो इसके प्रति सचेतन बन ! इसे अपने जीवन-लक्ष्य के रूप में चुन। संकल्प ले और इसके प्रति अपना सर्वस्व समर्पित कर दे। जो तुझे करना है, उसका व्यावहारिक रूप इस प्रकार है :

सर्व प्रथम तू सच्चा बन। तेरे विचार, तेरे भाव, तेरे कर्म, तेरा जीवन सब सत्यमय हो। तत्पश्चात् अपने अंदर उद्घाटन लाने का प्रयास कर। रोम-रोम सत्य के प्रति जाग उठे, ग्रहणशील बन जाये। उद्घाटित सत्ता रूपांतर के लिए सर्वश्रेष्ठ आधार है। उसमें उच्च चेतनाओं के अवतरण स्वतः घटित होते हैं। हम उन्हें ग्रहण करते हैं और फलस्वरूप अपने आप को रूपांतरित करते हैं। उच्च चेतना का अवतरण हमारे अंदर रूपांतर की संभावना उत्पन्न करता है। अंतिम कर्म — वैसे साधन-प्रक्रिया में अंतिम जैसी कोई चीज कहीं नहीं होती — जो तुझे करना है, वह है संपूर्ण सत्ता का समर्पण। अर्थात् जो तू है, जो तेरे पास है, जो तू बनना या होना चाहता है— उन सब का निश्शेष समर्पण।

जीवन पर तेरा अधिकार नहीं रहेगा। जीवन जीवन-स्वामी का होगा। सब उनके विधान के अनुसार, उनके इंगित पर होगा। उनके आदेश का पालन ही तेरा कर्तव्य होगा। मार्गों पर तू उनकी अनुमति से चलेगा। दिशा का चुनाव, गन्तव्य का निर्धारण वे करेंगे। फल-प्राप्ति और

सिद्धि-असिद्धि का भाव मन से निकाल दे। सफलता और विफलता की, अब तक की चली आ रही परिभाषा का मूल्य तेरी चेतना में निरर्थक रहेगा। एक भागवत यंत्र के लिए, सत्य के अन्वेषी के लिए, समर्पित व्यक्ति के लिए इन सब चीजों का मूल्य परिवर्तित हो जाता है। तुझे केवल प्रभु के हाथों की मुरली बनना है। इस भाव में निवास करने से तू अवश्य स्वीकार किया जायेगा।

भगवान में विश्वास का अर्थ है— सफलता।

भगवान हमसे समर्पण की मांग क्यों करते हैं ?
क्योंकि हम अपने हित को, अपने लिए हितकारी पथ को नहीं पहचानते। वे हमें स्वीकार करके अपने ढंग से तैयार करते हैं और सर्वोच्च हित प्रदान करते हैं।

प्रभु को सर्वस्व देने का अर्थ है— संसार में उनकी शक्ति का केन्द्र बन जाना। समर्पित व्यक्तिको भगवान सृष्टि-कर्म में अपने यंत्र के रूप में चुनते हैं।

जहाँ कोई आशा नहीं, भागवत कृपा में अटूट विश्वास हमारी रक्षा करता है।

आत्म-अवतरण

मानव-आत्मा सृष्टि में अवतरित होती है और मन, प्राण, शरीर, इंद्रियों को अपने यंत्रों के रूप में धारण करती है। इनकी प्रकृति के चोले को अपने ऊपर ओढ़ लेती है और इनके भीतर से, पीछे से, इन्हें आत्म-अभिव्यक्ति के लिए तैयार करती है। जन्म-जन्मांतरों के बाद ये आत्मा के प्रभाव में रहना सीखते हैं, इन में अंतर्मुखता का भाव आता है, सत्य की ओर उद्घाटित रहने लगते हैं। पुराना स्वभाव परिवर्तित हो जाता है। हम आत्म-विकास में कहाँ तक अग्रसर हुए हैं, कितने उन्नत हैं, इसकी जाँच हमारे स्वभाव में हुए परिवर्तन से की जाती है।

जब तक प्रकृति शुद्ध नहीं है, हम अपनी आत्मा को नहीं देख सकते और न उसकी वाणी सुन सकते हैं। अशुद्धि ही पर्दा है, चाहे हमारी प्रकृति में उसका जो रूप हो।

मनोमय और प्राणमय पुरुष जब शुद्ध और शांत हो जाते हैं, इंद्रियाँ संयमित, अहंकार समर्पित; तब हम अपनी बाह्य सत्ता के पीछे हटने में सफल होते हैं, पृथक्करण संभव होता है। एक घनीभूत एकाग्रता हमें अधिकृत कर लेती है, हम अपनी आत्मा के साथ तादात्म्य लाभ करने में समर्थ होते हैं।

मानव प्रकृति में यह उसका अहंकार है जो बिना मूल्य चुकाये वस्तु को पाना चाहता है। उसकी आत्मा का स्वभाव भिन्न है। वह देने में प्रसन्नता अनुभव करती है।

अंतर्मुखी दृष्टिकोण

हे पृथ्वी पर अवतरित आत्मा, हे भव-सिंधु के यात्री ! ईश्वर को पाना है तो अपनी दृष्टि अंतर्मुखी कर। जीवन की धारा को, मन की गति को मोड़ कर भीतर की ओर ले चल। इंद्रियों को हृदयेश्वर के अधीन कर दे। जीवन को उनके आदेश की अभिव्यक्ति का रूप प्रदान कर। उसे सब भावों में, सब अंगों में, मन, वाणी और कर्म के साथ समर्पित हो जा। तेरे अंदर इतनी क्षमता होनी चाहिए कि तू जब चाहे, शरीर की, प्राणों की और मन की गतियों को शांत, स्थिर कर सके और पूर्ण नीरव बन सके।

हम जगत को जिस दृष्टि से देखते हैं, वह मानसिक है। मन के विकास के अनुसार, उसके स्वभाव के अनुसार हमें जगत दिखायी देता है। मन अपने आप में एक अपूर्ण, दोषयुक्त यंत्र है। इसी से वह जगत को भी दोष और त्रुटियों से भरा पाता है। अगर हम जगत को आत्मा की दृष्टि से देखें तो हमें सब परमात्मा की अभिव्यक्ति, उनकी लीला दिखायी देता है, जो एक क्रमिक विकास के द्वारा अज्ञान से ज्ञान की ओर, अपूर्णता से पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहा है। आत्मा की दृष्टि आकारों को भेद कर निराकार तत्व पर पहुँचती है। आवरणों के परे ईश्वर का दर्शन करती है। प्राणी और वस्तुओं में आत्मा को अर्थात् स्वयं को देखती है। यहाँ जो कुछ भी है, जड़ या जंगम सब को अपने स्वरूप में अनुभव करती है।

अगर हम आत्मा से आवरण को पृथक देख सकें तो हमें जगत में कोई वस्तु अपने मूल स्वरूप में कुरूप, घृणित अथवा कुत्सित दिखायी नहीं देती। मन की दृष्टि नेत्रों के ऊपर से खिसक जाती है। हर वस्तु में सच्चिदानंद विराजमान दिखायी देते हैं। जगत उनका अपना, अपने द्वारा लिया हुआ रूप भासित होता है। हम सृष्टि के रहस्य के प्रति सचेतन हो जाते हैं। हर चीज का स्थान, उसका महत्व, उसका उपयोग हमारी समझ में आ जाता है। इसीलिए हमें कुछ भी अनुचित अथवा अनुपयुक्त नजर नहीं आता। हम समझ जाते हैं कि सृष्टि अपने निर्माण-कार्य में है। इसकी रचना समाप्त नहीं हुई है। अभी निर्माण-कार्य जारी है। अगर हमें इस समय कुछ असुंदर और अपूर्ण प्रतीत हो रहा है तो वह केवल कल तक। कल निर्माण-कार्य पूर्ण होते ही सब सुंदर, दिव्य, देदीप्यमान बन जायेगा और हमें सुखद अनुभव होगा। पालने में अबोध, असहाय शिशु को देख कर बुद्धिमान माता-पिता निराश नहीं होते। वे दूर देखते हैं जहाँ उन्हें अपने समर्थ, सुयोग्य पुत्र से सब प्रकार की आशाएँ हैं और जिसकी उपस्थिति अति सुखकर अनुभव होती है।

इस संसार में कुछ भी पूर्ण रूपसे कठिन नहीं, अप्राप्य नहीं, असंभव नहीं। आत्म-शक्ति के सम्मुख सबको मार्ग देना होता है। संकल्प की वज्रसम दृढ़ता को देख कर सफलता स्वयं समर्पण कर देती है, हमारे समीप आ जाती है।

अहंकार को जय करें

मनुष्य चाहता है, वह सबसे प्रेम करे; स्वार्थ-भावना से ऊपर उठे। लोभ और मोह उसके हृदय-मंदिर को अपवित्र न करें। ईर्षा-द्वेष जैसी विषैली भावनाएँ उसके स्वभाव में न रहें। अहंकार उसे छोड़ कर चला जाये और वह अपनी सत्ता के सत्य में निवास करे। उसी के अनुसार जगत में व्यवहार करे। उसे अपने स्वभाव के दोष और दुर्बलताएँ, कुछ काली ग्रंथियाँ दूर से नजर आती हैं और इनके विषय में वह कभी-कभी बहुत खिन्न भी हो उठता है। वह अपने अंदर एक ऐसा बिंदु खोजना चाहता है, जो इन सब दुर्गुणों और दुर्बलताओं का मूल है। अगर उसे एक बार वह बिंदु मिल जाये तो वह तुरंत काट-फेंकने को तैयार है।

युग पर युग बीत गये, जन्म के पश्चात् दूसरा जन्म लेते, मनुष्य सहस्त्रों बार धरा पर आ चुका। लेकिन वह अपनी समस्या का समाधान नहीं पा सका। अहंकार रूपी इस मिथ्या व्यक्तित्व को, जो कि उसके स्वभाव में सब दोषों का मूल है, न त्याग सका, न इससे ऊपर उठ सका। इसे न जीत सका, न परिवर्तित कर सका।

इससे ऊपर उठे भी कैसे ? वह इसी का जो बना हुआ है। अहंकार हमारे रोम-रोम में बसा हुआ है। इससे ऊपर उठने का अर्थ है, अपने आप से ऊपर उठना, अपने वर्तमान स्वभाव को पीछे छोड़ कर एक नये स्वभाव को, जो कि हमारे

सच्चे व्यक्तित्व का स्वभाव है, धारण करना। अहंकार को समाप्त करने का अर्थ है, अपने हाथ से अपना गला काटना और अंतर्वेदी के अर्पण करना। मिथ्या एवं गौण व्यक्तित्व की आहुति बना कर अंतर-अग्नि में होम कर देना, अर्थात् आत्माहुति।

तब क्या हम अहंकार को सदा पकड़े रखेंगे ? जिसका अर्थ होता है उसकी पकड़ में रहना, उसके चलाये चलना !

हम अपनी सत्ता के सत्य में निवास कर सकते हैं। हमारे लिए यह संभव है। अगर हम इस सतही जीवन से, सतही व्यक्तित्व से, अपनी यांत्रिक सत्ता से पीछे हटना सीख लें। यह हमारा बाह्य व्यक्तित्व है, जो मन, प्राण, शरीर और इंद्रियों के द्वारा निर्मित है। हमारा अहंकार अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए इन यंत्रों का उपयोग करता है। ये तीनों पुरुष जिन्हें मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कहा है, जब जाग जाते हैं अर्थात् अपने सच्चे स्वरूप और लक्ष्य के प्रति सचेतन हो जाते हैं, तब अंतस्थ पुरुष को समर्पित हो जाते हैं। इनकी वृत्ति बहिर्मुखी नहीं रहती, अंतर्मुखी हो जाती है। हम अहंकार के स्वरूप को पहचान लेते हैं और उसके प्रभाव में नहीं आते। उसे समर्पित होने के लिए बाध्य करते हैं। एक उच्च चेतना की ओर हम उद्घाटित रहते हैं, वह हमारे अंदर प्रवाहित होती है। उसका माधुर्य रोम-रोम से झरता है। जीवन उसी के संकल्प की अभिव्यक्ति का रूप ले लेता है। हमारा निवास आत्म-सत्य में होता है।

कर्म-चुनाव

कुछ कर्म हैं जिन्हें करने से हमारी आत्मा आनंदित होती है। कुछ कर्म मन या प्राणमय पुरुष को संतुष्ट करते हैं। कुछ शरीर तथा इंद्रियों को सुख प्रदान करते हैं। जीवन का अर्थ है कर्म। जीवन में प्रवेश अर्थात् कर्म में प्रवेश। जहाँ जीवन है वहाँ कर्म अवश्य है। जीवन हमें कर्म में प्रवृत्त करता है। सृष्टि अपने आप में एक महान कर्म है। सृष्टि-कर्त्री चेतना-शक्ति भिन्न-भिन्न स्तरों पर प्रवृत्ति के रूप में कर्म का संचालन करती, उसे अभिव्यक्त करती है। इस प्रवृत्ति को हम दो विशेष धाराओं में क्रियारत पाते हैं — एक है अधोमुखी, दूसरी ऊर्ध्वमुखी। विकासोन्मुखी मानव आत्मा अपने विकास के अनुसार अपने यंत्रों को, मन, प्राण, शरीर , इंद्रियों को इस प्रवृत्ति की ओर खोलती है। प्रारंभ के जन्मों में सब अज्ञानमय, अंधकारमय होता है। हम अधोमुखी प्रवृत्ति को चुनते हैं जो इंद्रियों के जगत में विचरती है। धीरे-धीरे हमारी कामनाओं का स्तर ऊँचा उठने लगता है, आवेगों पर पूर्ण बौद्धिक संयम हो जाता है। जन्म बीतते हैं और हम पाशविक वृत्ति को त्याग, स्वार्थमय भावों को पीछे छोड़, एक विशाल चेतना में आरोहण करते हैं, जो दिव्य है। हम उसकी ओर खुलते हैं, उसे अपने जीवन, कर्म और स्वभाव में उतारते हैं। अहंकार का काला आवरण जो हमारी आत्मा और मन के बीच स्थित था, उतार फेंकने में समर्थ होते हैं। हमारे कर्मों का स्रोत उच्च

चेतना होती है, जो प्रकृति के साथ बंधन के स्थान पर हमें आत्म-मुक्ति प्रदान करती है। एक प्रशस्त पथ हम अपने सम्मुख खुला पाते हैं जो हमें आत्म-विकास की चरम पूर्णता को दर्शाता और उसे हमारे लिए सुलभ-संभव बनाता है।

जो सबको प्रेम करते हैं, आदर की दृष्टि से देखते हैं, वे ईश्वर के साथ ही व्यवहार करते हैं, कल अन्तर्दृष्टि खुलते ही इसका सत्य उन्हें गोचर हो जायेगा -- यही प्रारंभ है।

अपने लिए जीना, अपने सुख की चिंता करना, अपने आप को केन्द्र बना कर जीवन के स्वरूप का गठन करना, यह पृथकत्व की चेतना का अज्ञानमय परिणाम है। इसमें हम चरम एकत्व रूपी परम सत्य से दूर रहते हैं।

सचेतन होते ही हम अपनी जीवन-धारा को जीवन-स्वामी की ओर मोड़ते हैं। उनको पाना, उन्हें समर्पित हो कर जीना हमारे जीवन का तथ्य हो जाता है।

भगवान के लिए अनन्य प्रेम, उन्हें मिलन की प्यास, उनका होकर जीने का अदम्य संकल्प, हमारे और हमारी आत्मा के बीच पड़े व्यवधान को दूर करते हैं।

जीवन का सच्चा अर्थ

अगर हम अपने ढंग से जीवन-यापन करते हैं और अज्ञानजनित अहमात्मक चेतना में हमारा निवास है, अगर हमारे अंदर इच्छाएँ उठती हैं, छोटी-छोटी चीजें झुंझलाहट उत्पन्न करती हैं, इंद्रियों के आवेगों से प्रभावित हो जाते हैं, तो इसका अर्थ है हमारा निवास समता में नहीं है। हम एक समर्पित व्यक्ति का जीवन नहीं जी रहे हैं। हमें इस गहन तथ्य के प्रति सावधान हो जाना चाहिए कि पार्थिव जीवन के रूपांतर का महान कार्य, जो विश्व के सम्मुख अतिमानसिक चेतना के द्वारा विकासोन्मुखी सत्ता की वर्तमान विकास-धारा के रूप में उपस्थित है,— उसके लिए हमें नहीं चुना जा सकेगा, अयोग्य ठहरा दिया जायेगा— रूपांतरकारिणी शक्ति का तेज, उसका दबाव, हम सहन नहीं कर पायेंगे, क्योंकि हमने मूल्य नहीं चुकाया, शर्तें पूरी नहीं कीं। अतिमानवों की प्रथम पंक्ति में हमें स्थान नहीं मिलेगा।

हमें एक बार फिर गहराई के साथ सोचना है, जीवन के मूल्य को समझना है। इसे सारहीन निरर्थक वस्तुओं में न गंवा कर आत्म-उपलब्धि एवं आत्म-अभिव्यक्ति का आधार बनाना है। ये ही चीजें जीवन को सच्चा अर्थ प्रदान करती हैं। इनकी प्राप्ति ही कर्मों में कर्म, पुरुषार्थों में सच्चा पुरुषार्थ है।

आत्म-दर्शन की कुंजी

चित्त जब चंचलता छोड़कर शांत हो जाता है, इंद्रियों सहित मन अंतर्मुखी वृत्ति धारण कर लेता है, हृदय मोह और आसक्ति से ऊपर उठ कर प्रभु-प्रेम में विह्वल रहने लगता है, जब हम अपने अंधकारपूर्ण जीवन से ऊब जाते हैं, इसकी सीमाएँ हमें काटने-कचोटने लगती हैं, जिसमें हमारा अहंकार केवल अपने आप को केंद्र बना कर सब कुछ सोचता और करता है, अपने स्वार्थ को आगे रख कर ही जीवन-मार्गों पर बढ़ता है; जब हम इसकी चालों को समझकर इसके साथ किसी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं होते और इसे प्रभु-चरणों में आत्म-निवेदन करने को, पूर्ण समर्पित होने को बाध्य कर देते हैं, तब हमारा भाग्योदय होता है। प्रभु-कृपा हमारे ऊपर बरसती है, अंधकार का पर्दा हट जाता है, हमारा जन्म-जन्मांतरों से बंद हृदय-द्वार खुल जाता है, हम अपने आप को दिव्य पुरुष के रूप में, अपनी इस बाह्य सत्ता के पीछे पाते हैं। हमें अंतिम सुख की अनुभूति होती है, आत्म-दर्शन अर्थात् ईश्वर का साक्षात् होता है।

आत्मा के आनंद की मधुरता इतनी तीव्र है कि उसके साथ इस लोक की बात तो क्या, किसी भी लोक की, किसी भी वस्तु की तुलना नहीं की जा सकती।

स्वर्णिम-क्षण - २९.२.१९५६

हे आत्मा, जाग ! हे मानव, सचेतन बन ! सत्य-चेतना की, अमृत-सिंधु की मधुमय धारा धरती पर उतर रही है। ये स्वर्णिम क्षण व्यर्थ न खो। परम सौभाग्य का द्वार तेरे सम्मुख खुला है। उसमें प्रवेश कर। जीवन को धन्य बना। भीतर आत्मा को हर्षित कर। यही अवसर है, अगर अब भी प्रकाश-पथ नजर नहीं आता, प्रभु को पुकार, पथ-प्रदर्शन के लिए प्रार्थना कर। प्रभु-चरणों में बैठ, आशीष मांग, शरणागति ले। विश्वास मत खो, श्रद्धा रख। बाह्य कोलाहल से दूर अंतर्श्रवण कर ! एक शब्द, एक ध्वनि, चाँदी की-सी घंटियों की झंकार। तत्पश्चात् दिव्य शंख का घोष, घोर शब्द, साथ ही आश्चर्य ! देख ! एक दिव्य दृश्य, कुछ नवीन, अद्भुत ! अतिमानस की उपस्थिति, उसकी अभिव्यक्ति का प्रारंभ !

एक बार प्रारंभ कर ! इस अंतर्वाणी को सुन, तेरी आत्मा तुझे सम्बोधित कर रही है :
सब संदेहों का त्याग कर दे। श्रद्धावान बन।
प्रभु में आस्था, उनकी कृपा में विश्वास जगा। अपनी सत्ता में इन्हें जन्म दे। वे मंगलमय तेरा मंगल करेंगे।
वे दीनबंधु भक्तों की सहायता करने में आत्मसुख अनुभव करते हैं। ऐसा हर महापुरुष का अनुभवसिद्ध कथन है।

हृदय-मंदिर

जिस हृदय में आत्म-ज्ञान का कमल खिलता है, भागवत उपस्थिति जीवंत-जाग्रत अनुभव होती है और अपना दिव्य प्रकाश विकीर्ण करती है; उसका वातावरण पवित्रता से भरा होता है, वह एक शुद्ध, स्वच्छ, दिव्य सुरभि से सुरभित, मंदिर के समान होता है। मोह-आसक्ति के बादल वहाँ प्रवेश नहीं पाते। वहाँ केवल भागवत प्रेम के दिव्य स्पंदन स्पंदित होते हैं। भक्ति-भाव की मधुमय धारा प्रवाहित होती है। प्रभु के लिए, प्रभु का हो कर जीना, यही संकल्प, इसी की ध्वनि-प्रतिध्वनि वहाँ छायी रहती है। ऐसा हृदय प्रभु का निवास-स्थान होता है। ऐसा आधार ही, उनकी शक्ति एवं चेतना का वाहन होता है। वहीं आत्म-अग्नि का प्रज्वलन, भागवत दिव्य कमल का प्रस्फुटन, अंतस्थ देव का प्रकटन संभव होता है।

सामान्य मानव-हृदय मोह और आसक्ति का निवास-स्थान है। वहाँ अंधकार छाया रहता है। ऐसे हृदय में भागवत उपस्थिति का प्रकटन, आत्म-चेतना का अनावरण, दिव्य पुरुष का पथ-प्रदर्शन असंभव है। हम जब-जब वहाँ प्रवेश करते हैं काली, कुत्सित वस्तुएँ स्पष्ट दिखायी देती हैं। हम वहाँ ठहर नहीं पाते, तुरंत बाहर आने को बाध्य होते हैं। श्वास लेना कठिन होता है, घुटन अनुभव करते हैं।

चैत्य - सम्मुखता

श्रीअरविंद के योग में एक सूत्र है — अपने चैत्य पुरुष को सामने लायें अर्थात् उसे सत्ता का शासक बनायें, जीवन की बागडोर उसके हाथ में दें, उसके इंगित पर चलें। अभी हमारा चैत्य पुरुष मन, प्राण और शरीर के पीछे, हमारे लिए इनकी प्रकृति से आच्छादित है। मनोमय और प्राणमय पुरुष जीवन को अपने ढंग से चला रहे हैं। सब उनके अधिकार में है, इसीलिए हमारा वर्तमान जीवन कुछ इच्छाओं, आवेगों और प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति मात्र है। हम न जीवन के लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं और न आत्म-सत्य की ओर। हमारा जीवन न प्रभु के लिए है, न उनके विधान के अनुसार, न उनके संकल्प की अभिव्यक्ति। अतः इस समय हमारा निवास सत्य में नहीं, मिथ्या में है; प्रकाश में नहीं, अंधकार में है। ज्ञान में नहीं, आत्म-अज्ञान में है।

यहाँ यह स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि कैसे जीवन को उन्नत किया जाये, कैसे आत्मा में, आत्म-सत्य में निवास किया जाये?

हमें बताया गया कि चैत्य पुरुष के मार्ग-दर्शन में चलने से, उसके प्रभाव में रहने से, उसकी ओर खुलने से, उसके भाव को अपनाने से, हमारी बाह्य और अंतश्चेतना के बीच सेतु निर्मित हो जाता है और जीवन-पथ पर हमें जब जैसी आवश्यकता हो, वैसी प्रेरणा प्राप्त होती है। हम अपने हृदय में

स्थित ईश्वर को जीवन-स्वामी के रूप में चुन लेते हैं और उन्हें समर्पित रहते हुए, जीवन-यापन करते हैं।

चैत्य पुरुष को सम्मुख लाने के लिए अभीप्सा, त्याग, समर्पण— ये तीन सूत्र श्रीअरविंद ने हमें प्रदान किये हैं जो उनके 'पूर्ण योग' में प्रवेश पाने की तीन सुनहरी कुंजियाँ हैं। इनके द्वारा हम बाह्य सत्ता में उद्घाटन ला सकते हैं, जो कि उनके योग में अनिवार्य है। अगर हम इन शब्दों की गहराई में पहुँच सकें, इनके भाव को, अपनी स्वाभाविक वृत्ति का रूप प्रदान कर सकें, तो हमारा चैत्य पुरुष स्थायी रूप से सम्मुख आ जायेगा। हम यह कहने में समर्थ हो जायेंगे कि हमने साधन-सोपान पर पहला पग दृढ़तापूर्वक जमा लिया है, हमारा जीवन-स्तर सामान्य स्तर से ऊपर उठ चुका है और हम आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश पा चुके हैं।

चैत्य पुरुष के साक्षात्कार के पश्चात् व्यक्ति अपनी स्वाभाविक दुर्बलताओं से ऊपर उठ जाता है, भव-सिंधु में, उसका व्यक्तित्व, चट्टान के समान दृढ़ हो जाता है, जिसे कामना रूपी कोई तरंग विचलित नहीं कर सकती। शास्त्रों में जिन्हें संत कहा है, संत-भाव में जो सुप्रतिष्ठित हैं, श्रीअरविंद की शिक्षा में चैत्य पुरुष की चेतना में निवास करनेवाले व्यक्ति का वही स्तर होता है।

हमारा लक्ष्य

केवल आत्म-साक्षात्कार को मानव-जीवन के लक्ष्य के रूप में अपना कर हम संतुष्ट नहीं हो सकते। हमारा लक्ष्य जीवन में दिव्यता एवं आत्म-परिपूर्णता लाभ करना है। अवश्य, आत्म-साक्षात्कार एक महान तथा सर्वोच्च उपलब्धियों में से है और आत्म-परिपूर्णता के पथ में प्रथम अनिवार्य शर्त है।

अब बात आगे बढ़ गयी है। आज मनुष्य का ध्यान पूर्णता की ओर है। वह अपनी सत्ता में तथा जीवन में पूर्णता प्राप्त करना चाहता है। आत्मा के गुण और शक्तियों को पृथ्वी पर उतार कर उनकी सहायता से अपने जीवन को दिव्य जीवन का रूप प्रदान करना चाहता है। उसके अंदर एक नई अभीप्सा उठ रही है, एक नई चेतना से प्रेरित होकर वह जीवन-मार्गों पर बढ़ रहा है। उसके हृदय में परिवर्तन की प्यास है। वह वर्तमान अज्ञानमय जीवन से संतुष्ट नहीं है। प्रकृति की दासता, मानसिक अंधता उसे व्याकुल कर रही है। वह एक आत्म-सत्य से भरपूर जीवन का स्वप्न देख रहा है। जहाँ वह सत्य प्रेरणाएँ प्राप्त कर सके, जिनका अनुसरण करने से उसका जीवन दिव्यता, शांति एवं आनंद से भरपूर हो उठे।

ऐसे स्वर्णिम क्षणों में, जिसे हम देव-मुहूर्त कह सकते हैं, जगत-पिता, जगत के ऊपर प्रसन्न होते देखे जा रहे हैं। एक

दिव्य उषा के आगमन का शुभ संदेश पृथ्वी को प्राप्त हो रहा है। एक मृदुल, मधुर वाणी हमारी अंतर्सत्ता में प्रवेश कर रही है। वह सब भाँति नवीन है और हमारी अभीप्सा की संसिद्धि में सब प्रकार सहायक सिद्ध है।

"हमारे योग का प्रथम प्रयास है पृथ्वी पर दिव्य जीवन की स्थापना करना, और वह तभी संभव हो सकता है जब हमें आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हो।" — *श्रीअरविंद*

एक नई खोज के लिए मनुष्य को तैयार किया जा रहा है। एक उच्चतर समाधान उसे ढूंढ़ना होगा, जो वर्तमान अपूर्ण जीवन में आत्मा की पूर्णता, अदिव्य सत्ता में दिव्यता का प्रवेश संभव करेगा। अंधकारपूर्ण जीवन-व्यापार को आत्मा की महत्ता में उठा कर उसे उच्चतम अर्थवत्ता प्रदान करेगा।

हर मनुष्य में एक नया बीज बोया जा चुका है, अर्थात् नई उपलब्धि के प्रति अभीप्सा की अग्नि चेतन की जा चुकी है। जिसके परिणाम स्वरूप यह संभव है कि मनुष्य का वर्तमान जीवन, जिसमें वह विश्व-प्रकृति की शक्तियों की दासता को बाध्य होकर स्वीकार कर रहा है, उसे काटने-कचोटने लगे, उसका हृदय निराशा से भर उठे और एक असंतुष्टि से अपने आप को घिरा पाए। यह एक संक्रमण काल है और कभी-कभी जीवन में उत्थान लाने के लिए, हमारे अंदर अभीप्सा जगाने के लिए अनिवार्य स्थिति है।

मिल कर खोजें

जब यह अनुभव हमारा अपना हो जाये कि जिस समय हम अपने आपको पूर्ण रूप से संतुष्ट समझते हैं, उस समय भी हमारे अंदर कोई पूर्ण असंतुष्ट रहता है और अगर हम उसकी असंतुष्टि को सही-सही समझ सकें, अनुभव कर सकें, उसके कारण को जान सकें, तब हमारे अंदर अभीप्सा जगेगी। जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल जायेगा, हमारी चेतना में परिवर्तन आयेगा, फलस्वरूप हम अपने आपको, जीवन को, विचारों को, और कर्मों के प्रति अपने भाव को, बदलने का प्रयास करेंगे, हम भीतर से उसके लिए बाध्य अनुभव करेंगे।

चेतना में यह परिवर्तन ही असली वस्तु है। इसके साथ ही जीवन उत्थान-लाभ करता है। हमारे अंदर एक नई खोज करने की प्रवृत्ति जन्म लेती है। मानव-जन्म और जीवन का अर्थ ही है खोज। जो इस अद्भुत और अनंत सृष्टि की रचना करके इसमें छिप गया है, जो हमारे अंदर गुप्त रूप से विराजमान है, जो हमारी सत्ता का सत्य है, उसकी खोज।

यहाँ, इस संदर्भ में हम इतना और कह देना चाहते हैं कि कल तक यह खोज व्यक्तिगत थी। अधिक से अधिक शिष्य-समूह तक ही सीमित थी। आज जबकि अतिमानसिक चेतना पृथ्वी के वातावरण को प्रभावित करने का सफल एवं सार्थक प्रयास कर रही है, मानव-चेतना पर एक दबाब है,

उसके दृष्टिकोण में विशालता जन्म ले रही है, स्वभाव में परिवर्तन का बीज अंकुरित है। वह अपने सीमित व्यक्तित्व से ऊपर उठना चाहता है।

हमने इस खोज को सामूहिक रूप प्रदान करना आरंभ कर दिया है। शीघ्र ही मनुष्य सामूहिक रूप में अतिमानसिक तत्व को, चेतना को खोजेगा, उसे प्राप्त करेगा और उसकी अभिव्यक्ति को अपने जीवन-लक्ष्य के रूप में चुनेगा। मानव-जीवन आत्मा की दिव्यता से दिव्य, उसके माधुर्य से भरपूर, आनंद से ओत-प्रोत होगा।

मानव-जीवन का रूपांतरण संभव है। इसे शत-प्रतिशत आत्मा की अभिव्यक्ति का रूप प्रदान किया जा सकता है। मनुष्य विश्व-चेतना में उठ सकता है, अपनी सीमाओं का पूर्णतया अतिक्रमण कर सकता है। आत्मा में निवास करते हुए,संसार में प्रभु का यंत्र बन कर जीवन-यापन कर सकता है। उनके दिव्य संकल्प को यहाँ चरितार्थ करके, धरती के जीवन को दुख-कष्ट, जरा-मरण, व्याधि आदि से रहित बना सकता है और इसे एक ऐसे जीवन में परिवर्तित कर सकता है जो आत्मा के आनंद से ओत-प्रोत हो, जिसमें सत्य-चेतना अबाध गति से प्रवाहित हो। आत्मा के स्वातंत्र्य में हम मुक्त भाव से विचरते हों।

जन्म का औचित्य

सुख की प्राप्ति, दुख का अभाव सभी चाहते हैं। अमरत्व की प्राप्ति, जरा, व्याधि और मृत्यु से रहित जीवन की कल्पना का बीज हम सब के अंदर है। हम जानते हैं कि अज्ञानमय जीवन में यह संभव नहीं। अतः ज्ञान एवं प्रकाशपूर्ण जीवन के प्रति अभीप्सा भी हम सब के हृदय में है। अमरत्व, ज्ञान और प्रकाशपूर्ण जीवन मानव मात्र के लिए संभव है। लेकिन, हर प्राप्ति के लिए उसका मूल्य चुकाना इस जगत का विधान है। हमारी हर प्राप्ति इस बात पर निर्भर करती है कि उसके लिए, उसके मूल्य को चुकाने के लिए, हम कहाँ तक तैयार हैं। अर्थात् अगर हम आत्म-उपलब्धि चाहते हैं, आत्म-अज्ञान के स्थान पर आत्म-ज्ञान में निवास चाहते हैं, तो हमें क्षुद्र अहं का त्याग तथा इच्छाओं पर नियंत्रण करना होगा, संयमित जीवन जीना तथा विषय-भोगों से ऊपर उठना होगा।

पग-पग पर मूल्य चुकाते हुए, हर स्तर पर पूर्णता प्राप्त करते हुए, आत्म-विकास के पथ पर अग्रसर होना हमारे अंदर आत्मा की इच्छा है। आत्मा की इस अभीप्सा के साथ समस्वरता प्राप्त करना, इसे जीवन की सबसे महत्वपूर्ण वस्तु समझना, इसके लिए सब कुछ समर्पित करने को सहर्ष उद्यत रहना सच्चे अर्थ में मानव-जीवन की सफलता तथा सार्थकता है। पार्थिव जीवन में आत्मा के अवतरण का औचित्य तभी सिद्ध होता है।

प्रथम कर्त्तव्य

शांत चित्त हो कर हृदय की नीरवता में डूबना और वहाँ भागवत इच्छा का पता लगाना, उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना, हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। दूसरा कर्त्तव्य है इस भागवत इच्छा को अपने जीवन में चरितार्थ करना।

पूर्ण शुद्ध हो कर ही हमारा चित्त शांत होता है। पूर्ण आत्म-संयम के बिना पूर्ण शुद्धि की कल्पना एक ख़याली पुलाव है। जो जीवन हम इस समय जी रहे हैं, वह अंधा है। उसमें दृष्टि नहीं है, क्योंकि वह आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित नहीं है। वह भूलों से, दोषों से, त्रुटियों से और दुर्बलताओं से भरा है, अज्ञान की छाया में बह रहा है। इसीलिए उसमें सच्ची उपलब्धि कम और भटकन अधिक है। उत्थान कम और प्रगति धीमी है। अगर हम अपने जीवन में सफलता, प्रकाश और मुक्ति चाहते हैं तो हमें अपनी जीवन-धारा को अन्तस्थ प्रभु की ओर मोड़ना होगा। जीवन को आत्म-अभिव्यक्ति का रूप प्रदान करना होगा।



पवित्रता प्रथम आनी चाहिए , अभीप्सा दिन-दिन बढ़नी चाहिए; योग्यता स्वंयं आ जाती है। जहाँ अभीप्सा तीव्र है, पवित्रता सर्वांगीण है, भगवान में अटूट श्रद्धा है, वहाँ सफलता अवश्य प्राप्त होती है।

वर्तमान जीवन

बहुत देर में हमें यह बात समझ में आती है कि अत्यधिक कर्म करना, अत्यधिक पढ़ना-लिखना, परोपकार या सेवा आदि में अत्यधिक व्यस्त रहना, शरीर और उसके व्यापारों की आवश्यकता से अधिक चिंता करना, अपनी उन्नति के लिए परेशान रहना, ये सब बातें साधना में बाधक हैं। इन सब बातों को जीवन में आवश्यकता से अधिक महत्व प्रदान करने का अर्थ है, जीवन को अपने ढंग से चलाना। जिसका व्यावहारिक रूप है जीवन की बागडोर अहंकार के हाथों में थमा देना। जीवन का यह स्वरूप, जिसमें मन की कामनाएँ और अहंकार की मांगें ही चालक-प्रेरक हैं, ठीक वही नहीं है जो हमारे हृदयेश्वर चाहते हैं। एक समर्पित व्यक्ति का जो भाव होना चाहिए, उससे हम दूर हैं। हमें अभी और सचेतन बनना है, अपने समर्पण को और अधिक पूर्ण बनाना है, और अधिक श्रद्धा से प्रभु को पुकारना है, और तब तक ऐसा करते जाना है, जब तक प्रभु हमें पूर्ण रूपसे स्वीकार न कर लें। हम अपनी ओर से पूर्णतः उनके न हो जायें, हमारे अंदर जीवन-स्वामी के रूप में वे ही जीवन का संचालन न करने लगें। अर्थात् जब तक हम पूर्ण रूपसे उनके हाथों की मुरली न बन जायें, तब तक अधिक से अधिक सचेतन और समर्पित होकर चलने की आवश्यकता है।

श्रद्धावान लभते

मनुष्य भगवान को प्रायः भूले रहते हैं। वे उनका सतत स्मरण नहीं करते। उनकी सहायता, उनका पथ-प्रदर्शन पग-पग पर नहीं खोजते। वे उन्हें मानते तो हैं लेकिन भगवान एक पिता की भाँति, एक मित्र की भाँति आकर सहायता कर सकते हैं, यह विश्वास उनमें नहीं है। हो भी कैसे, भगवान दिखते जो नहीं हैं। लेकिन अनुभव कहता है कि उनका होना संसार के प्राणियों और वस्तुओं से अधिक जीवंत और ठोस है, उनसे कहीं अधिक समीप है। भगवान सब संबंधों से अधिक हमारे अपने हैं। वे पिता हैं, जो पुत्र को अपनी ही आत्मा का अंश मान कर प्रेम करते हैं; वे माँ हैं जो अपनी संतानों को हृदय में रखती हैं। वे सखा और मित्र हैं और अपने मित्र-धर्म को निभाने में सर्वदा तत्पर रहते हैं। हम उनसे सब प्रकार की आशाएँ रख सकते हैं, जबकि वे हमसे केवल एक ही आशा रखते हैं, हम उनमें, उनकी सहायता में श्रद्धा रख

शास्त्रों की वाणी गभीरतम सत्य और उच्चतम दृष्टि है। हमें चाहिए, हम शास्त्र वचनों का मूल्यांकन सामान्य मानसिक स्तर से न करें। बाह्य दृष्टि बंदर की भाँति नारियल को निरर्थक समझ कर छोड़ देती है। विचारपूर्वक उसके उपयोग को समझने से हमें जल और फल दोनों की प्राप्ति होती है। जीवन-रक्षा में सहायक सिद्ध होता है।

साधन - सोपान

साधन-सोपान पर पहला पग दृढ़ और स्थायी रूप से जमाने के लिए हमें अपनी सत्ता में, अपनी चेतना में, अपने स्वभाव में एक निश्चित परिवर्तन लाना है। अहंकार से चालित जीवन के स्थान पर एक अंतः प्रेरित जीवन, प्रभु को समर्पित जीवन यापन करना है। जो भाव हमें निम्न प्रकृति से, कामनाओं के स्तर से, इंद्रियों की दासता से ऊपर उठा दे, उस भाव को खोजना और अपनाना है। हमें हृदयेश्वर की शरण ग्रहण करनी होगी। जीवन-नौका की पतवार उनके हाथों में सौंप देनी होगी।

इन भावों में हम अपने अंतस्थ देव के प्रभाव में होते हैं और हमें उनकी कृपा, उनकी सहायता स्वतः प्राप्त होती है। हम साधन-पथ पर निर्बाध गति से आगे बढ़ते हैं।

जीवन-पुष्प जब प्रभु-चरणों में चढ़ जाता है, हमारा दायित्व समाप्त हो जाता है। तब प्रभु-आदेश-पालन ही हमारा जीवन और उसका अर्थ रह जाता है। धरती पर हमारे लिए वही नये क्षितिजों को खोलता और उनका विस्तार करता है।

व्यक्तिगत इच्छाओं का त्याग करते जाने से, उन्हें प्रभु को समर्पित करने से हम भागवत संकल्प के प्रति सचेतन होने लगते हैं।

विकास-पथ

विकास-पथ अनंत है। हम चाहे जितना उन्नत हो सकते हैं। हमारे व्यक्तिगत संकल्प और अभीप्सा के पीछे एक अन्य, आंतरिक, अधिक सामर्थ्यवान संकल्प विद्यमान है। यह संकल्प जीवन-स्वामी का है। यह संकल्प उस दिव्य पुरुष का है, जो वास्तव में हम हैं, जो हमारा आध्यात्मिक सच्चा स्वरूप है। जब हम पूरी सच्चाई के साथ विनीत भाव में, अपनी जीवन-तरी को इस दिव्य पुरुष के हाथों में छोड़ देते हैं तो हमारा जीवन, जीवन का हर क्षेत्र चमत्कारमय हो जाता है। एक महानता हमारे अंदर उद्घाटित हो जाती है, उसका अनावरण हो जाता है, जो जीवन को पूर्णतः दूसरे स्तर पर, एक अधिक विशाल, भव्य और माधुर्य भरे आध्यात्मिक स्तर पर उठा देती है। एक अलौकिक क्षमता हमें प्रदान की जाती है जो निर्भ्रांत पगों से, निर्भूल दृष्टि से, जीवन-मार्गों पर चलने में सहायक होती है। एक महान रहस्य पृथ्वी के कण-कण में छिपा है, एक सहायता प्राणी मात्र के पीछे विद्यमान है। जो उसके बाह्य स्वरूप को, स्थिति को, अवस्था को, उच्चता अथवा निम्नता को, उत्थान अथवा पतन को, दृष्टि में न ला कर, कृपा बरसाती, अपना कर्त्तव्य पूरा करती है। एक अनाम उपस्थिति में जग डूबा है, जो बिना कुछ बदले में चाहे, प्राणियों की रक्षा करती है, उन्हें सन्मार्ग की ओर प्रेरित करती है।

मैं कौन ?

मेरी भूल यही थी कि मैं अपने आपको शरीर समझता रहा, जिसमें जगत के साथ व्यवहार करने के लिए कुछ इंद्रियाँ हैं। या फिर मैं अपने आपको मन समझता रहा और हर विचार को, कामना को अपनी समझ कर उसी के पीछे चलता रहा। या फिर मैं कुछ भाव-भावनाओं से भरे हृदय को लेकर जीवन-पथ पर बढ़ता रहा और उनकी पूर्ति को ही मनुष्य का संपूर्ण जीवन, उसका एक मात्र लक्ष्य समझता रहा। इस प्रकार कुछ विचार, भावनाएँ, इच्छाएँ ही मेरी चालक बनी रहीं और इनकी पूर्ति ही मेरा जीवन तथा कर्म।

इस सबके ऊपर एक गहरे और प्रकाशपूर्ण आत्म-मनन के द्वारा मैं यहाँ पहुँचा हूँ, जहाँ देख सकता हूँ कि मैं यंत्र नहीं, यंत्री हूँ, इस समस्त जीवन-व्यापार का स्वामी हूँ। एक चेतन आत्मा इस सबके पीछे है, मेरे भीतर है, वही मैं हूँ।

इच्छाओं में ग्रस्त होना, बहिर्मुखता है, भटकन है।
अंतर्मुखी वृत्ति जीवन में उत्थान प्रदान करती है।
हम जो भी करें, हमारा कर्म, हमारा व्यवहार, आत्म-सत्य में निवास करते हुए होना चाहिए। उससे बाहर सब मिथ्या है, धोखा है। अहंकार, मन और इंद्रियों के द्वारा हम छले जाते हैं।

हमारी कठिनाई

हमारी कठिनाई यही है कि हम जो हैं वही रहते हुए दिव्यता में उठना, चेतना की ऊँचाइयों में विचरण करना चाहते हैं। यह असंभव है। हमें वर्तमान अज्ञानमय स्थिति से बाहर आना होगा। वर्तमान क्षुद्र, सीमित, यांत्रिक व्यक्तित्व से ऊपर उठना होगा और अपने अंदर सच्चे व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित होना सीखना होगा। हमारी आत्मा हमारा सच्चा व्यक्तित्व है, दिव्यता हमारा स्वरूप है। हमें एक ऐसी चेतना विकसित करनी होगी, जो आत्म-प्रभाव को, अमिश्रित रूप में ग्रहण कर सके। आत्मा की महिमा को पहचाने, उसकी ओर उद्घाटित रहे। उसका आदेश सुनने के लिए आतुर रहे। एक ऐसी चेतना जिसमें अहंकार का मानों अस्तित्व ही मिट गया हो। कामनाएँ आत्म-यज्ञ में आहुति बन गयी हों।

हमारा अहंकार या हमारी कामनाएँ, ये दो तत्व प्रायः हमारी समस्या के कारण होते हैं। हमारी अन्तर्सत्ता में न अहंकार है, न कामना। अहंकार एक गौण व्यक्तित्व है। हमारे स्वभाव में स्वार्थ, लोभ तथा संग्रह की वृत्ति अहंकार की देन हैं। ये चीजें हृदय के ऊपर आवरण बनती हैं। इनसे ऊपर उठ कर ही आत्म-सत्य में हमारा निवास संभव होता है।

जाग्रत आत्मा

जिनके अंदर आत्मा जाग्रत है, जिनके जीवन का लक्ष्य सुख-भोग नहीं, जो मानव मात्र के जीवन का स्तर ऊँचा उठाना चाहते हैं, दूसरों को दुख-कष्ट से मुक्त करना चाहते हैं, वे सौभाग्यशाली हैं, भागवत कृपा उनके साथ है। वे पृथ्वी पर प्रभु के चुने हुए, उनके अपने प्रियजन हैं, उनकी अपनी प्यारी संतान हैं। इनका जीवन कभी अपने लिए नहीं होता। ये दूसरों के लिए, जगत के लिए, मानवता के लिए जीते हैं।

जीवन के प्रारंभिक काल में, जब इनकी यांत्रिक सत्ता तैयार नहीं होती, इनके हृदय का आवरण नहीं गिरता, इनकी आत्मा सम्मुख नहीं आती और जीवन को अपने हाथों में नहीं ले लेती, इन्हें भी आत्म-अज्ञान में से गुजरना पड़ता है। इनमें भी अहंकार होता है, कामनाएँ उठती हैं, वासना जाल बुनती है, सुख-भोगों की इच्छा के बादल इनके ऊपर भी मंडराते हैं।

लेकिन, इनके भीतर कोई सचेतन होता है, और जीवन-घटनाओं में हस्तक्षेप करता है। इनकी अंतर्सत्ता इनमें विवेक-दीप प्रज्वलित करती है। जगत और जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता है। जब तक ये लक्ष्य के प्रति सचेतन नहीं होते, इनकी कोई इच्छा पूरी नहीं की जाती। कभी-कभी तो इनके सुख के साधन भी छीन लिये जाते हैं। जब तक ये उसी दिशा में अभिमुख नहीं हो जाते जो दिशा इनके लिए भगवान ने चुनी है। ये ठीक वही नहीं करते जो

कि अंतस्थ प्रभु की इच्छा है। ये ठीक वहीं नहीं चाहते जो कि सृष्टिकर्ता इन्हें प्रदान करना चाहते हैं। इनकी अभीप्सा और आत्मा का संकल्प एक और अभिन्न नहीं हो जाते। तब तक सुख नाम की वस्तु इनके लिए नहीं है। तृप्ति इन्हें प्रदान नहीं की जाती, संतुष्टि इनसे दूर रखी जाती है, मुस्कान छीन ली जाती है। इन्हें सब कुछ तभी प्राप्त होगा, जब इनका अस्तित्व भागवत अस्तित्व के साथ युक्त हो जायेगा, जब ये प्रभु को पूर्ण समर्पित हो जायेंगे, प्रभु के हो जायेंगे, उनमें रहेंगे और वे इनमें निवास करने लगेंगे।

जब पृथकता का भाव नहीं रहता और आत्मा के साथ हमारा तादात्म्य पूर्ण हो जाता है, हमें सारी सृष्टि एक आत्मा के विस्तार के रूप में दिखायी देती है, तभी वे सब दिव्य वस्तुएँ, जो कि एक दिन हम चाहते थे, हमें प्रदान की जाती हैं और उनसे भी अधिक जिसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते थे।

अंतर्दृष्टि खुलते ही दृष्टिकोण बदल जाता है। इच्छाएँ अपना रूप बदल लेती हैं। मूल्य भिन्न हो जाते हैं। जो हम चाहते थे वह अब कहाँ, उसका तो अस्तित्व ही नहीं। उसका रूप परिवर्तित है। सुख की परिभाषा, उसके स्थान, उसके पाने के सांधन, पदार्थ बदल गये, दूसरे हो गये। सब अपने-अपने सत्य स्वरूप में हमारे सामने उपस्थित हैं। सब आत्मा, उसका प्रकटीकरण है।

अमूल्य वस्तु

रे मन ! हमें किसी भी मूल्य पर भागवत कृपा प्राप्त करनी है। करनी ही चाहिए। अपनी अल्प शक्ति और सीमित क्षमता द्वारा हम कहाँ तक बढ़ सकेंगे, कितने सागर पार करेंगे ? प्रभु और उनकी मंगलमयी कृपा को छोड़ कर इस संसार में दूसरी सारमय वस्तु है भी क्या? कौन-सी वस्तु है वह, जिसकी ओर हम ताकें? सभी कुछ तो यहाँ पंच-तत्व की रचना है। सब प्रपंच है, निस्सार है। लेकिन हमें बताया गया है, इन असत् असार वस्तुओं में, इन अबोध प्राणियों में वे प्रभु निवास करते हैं और जब उनकी उपस्थिति के प्रति ये सचेतन हो जाते हैं, उनके संकल्प की चरितार्थता में अपना सहयोग प्रदान करते हैं, तब मंदिर में प्रदीप की भाँति, इनमें आत्मा की ज्योति जगमगाती है, और सब विधान बदल जाता है। मिट्टी का पुतला, सचेतन दिव्य आत्मा का, परमात्मा का विग्रह हो जाता है। असत्, सत् का प्रतिरूप, उसकी अभिव्यक्ति, उसके तेज का वाहन बन जाता है। इस सृष्टि में सब महत्व, सब मूल्य आत्मा का ही है। जगत का सार और सत्य यह आत्मा ही है। वही हम अपनी मूल सत्ता में हैं। 'सोहम्, तत्त्वं असि' वरेण्य शास्त्र-वाचा है। अतः, हमें अति सावधानी के साथ पूर्ण सचेतन रहते हुए जीवन-पथ पर चलना है। कारण, यहाँ बाह्य स्तर पर सभी कुछ भटकानेवाला, विपरीत दिशा में ले जानेवाला है। इसीलिए

सचेतनता की अति आवश्यकता है। जब तक हम अपने भीतर इस आत्मा को, अपने हृदयेश्वर को नहीं प्राप्त कर लेते, वस्तुओं में, प्राणियों में और घटनाओं में उन प्रभु को देखने के अभ्यासी नहीं हो जाते, तब तक जगत-व्यापार त्रिगुणमयी माया का सिंधु है। जो मानव-आत्मा को डुबाए रखता है, जिसमें वह डूबी हुई है और स्वयं अपनी शक्ति-क्षमता से बाहर निकलने में, ऊपर आने में समर्थ नहीं है। आत्म-ज्ञान लाभ करने के लिए, आत्म-स्थिति प्राप्त करने के लिए, संसार के धूमिल मार्गों पर सफलतापूर्वक चलने के लिए और अपने आत्म-विकास में सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करने के लिए हमें एक पथ-प्रदर्शक की, सब भाँति समर्थ सहायक की आवश्यकता है, जिसे मार्ग का, दिशा का, गंतव्य का ज्ञान हो, और वे प्रभु ही हो सकते हैं। वे ही हमारे जीवन-स्वामी हैं। अतः उनकी ओर मुड़ना, उनकी शरण ग्रहण करना, उनकी इच्छानुसार जीवन जीना हमारा कर्तव्य हो जाता है।

'समर्पण मेरे योग का प्रथम शब्द है और यही अंतिम।'

- श्रीअरविंद



सच्चाई

हमें सच्चा बनना है। दूसरों के लिए नहीं, अपने लिए सच्चा बनना है। दूसरों के लिए इसका चाहे जो भी अर्थ या मूल्य क्यों न हो। दूसरों की दृष्टि में हम क्या हैं, इसकी हमें चिंता नहीं करनी है। इससे विशेष कुछ आता-जाता नहीं। जिस ओर हमें ध्यान देते रहना है, जिस बात की हमें चिंता करनी चाहिए, वह है भगवान की दृष्टि में, अपने चैत्य पुरुष की निगाहों में हम क्या हैं। हमें अपने आपसे पूछना है कि क्या हम ठीक वही हैं जो जीवन और जगत के प्रभु हमें देखना और बनाना चाहते हैं ! अगर हम हैं तो समझ लें कि हमने जीवन में सफलता प्राप्त कर ली है और अब पृथ्वी पर हमारे द्वारा भागवत कार्य हो सकेगा, जिसके लिए इस जन्म में हमारी आत्मा ने यह देह धारण की है। लेकिन, अगर ऐसा नहीं है और हमारे अंदर अभी बहुत-सी कमियाँ हैं, स्वाभाविक दुर्बलताएँ हैं, चेतना का विकास उस स्तर विशेष पर नहीं पहुँचा, जहाँ हम प्रभु के द्वारा चुन लिये जायें, उनके यंत्र बन सकें, तब, ऐसी स्थिति में, हमें पुनः एक बार आत्म-निरीक्षण अर्थात् जीवन का सर्वांगीण अवलोकन करना चाहिए। प्रथम जानना है कि हमारे किस भाग में अंधकार है, कौन-सा भाग बंद है, जो सत्य की ओर उद्‌घाटित नहीं हुआ, कहाँ समर्पण में कमी है, सत्ता के किस भाग में अभी भी हम अपने लिए जी रहे हैं, किस रूप में अभी भी कामना और

अहंकार को अभिव्यक्त कर रहे हैं और निर्णय लेने का अधिकार अपने हाथ में रखते हैं।

एक बार जहाँ हमें इन बातों का ज्ञान हुआ, तब केवल यही शेष रह जाता है कि जो भाग बंद है, उसे प्रभु के सम्मुख लायें, उसमें रूपांतरित होने की अभीप्सा जगायें। समर्पण को पूर्ण, सर्वांगीण करने का प्रयास करें। अपनी इच्छा को प्रभु चरणों में अर्पित करें, उनके संकल्प को जानें, उसे ही अभिव्यक्त करने में चित्त की प्रसन्नता अनुभव करें।

जब हम काम-वासना का त्याग कर चुकेंगे, इस केंद्र पर हमारा पूर्ण नियंत्रण हो जायेगा, जब यह ऊर्जा आत्मा की सेवा में समर्पित हो जायेगी और उसे अभिव्यक्त करने का माध्यम बनेगी, अमरता हमारा द्वार खटखटायेगी, मृत्यु हमारा आदेश-पालन करेगी, हम परम स्वतंत्रता में निवास करेंगे।

पारिवारिक बंधनों के प्रति सचेतन होकर चलने से, उनके पीछे भागवत संकल्प को समझने से, परिवार हमारे आत्म-विकास में बाधक नहीं होता। हमारी आत्मा परिवार को न बोझ मानती है, न उसके प्रति आसक्त ही होती है। मानव आत्मा में यह सामर्थ्य है कि वह जब चाहे किसी भी परिस्थिति से ऊपर उठ सकती है। उस पर नियंत्रण कर सकती है।

मानव-जीवन

प्रारंभ में हमें कुछ नियमों को लेकर चलना होता है। चेतना-पट से अहंकार और वासना के दाग मिटाने के लिए नित्यप्रति कुछ समय साधना-विशेष में देना होता है। किसी कारणवश साधना में शिथिलता न आ जाये, हम कहीं दूसरी शक्तियों के प्रभाव में आकर व्यसनों में न फँस जायें। लक्ष्य के अनुरूप ही, अर्थात् जो चीजें आध्यात्मिक स्तर पर उठाने में सहायक हों, साधना की गति में तीव्रता प्रदान करें, आत्मा से आवरण हटाएँ, जीवन में उत्थान लायें, उन सबको सावधानी के साथ चुन-चुन कर प्रथम स्थान प्रदान करना चाहिए। हमें विवेकानंद की यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि 'शरीर और मन, दोनों का स्नान नित्यप्रति करना आवश्यक है। लेकिन अगर किसी दिन समय कम हो तो शरीर का स्नान छोड़ सकते हो, मन का नहीं।'

जीवन का अर्थ है अंतस्थ देव की अभिव्यक्ति, उनका आदेश-पालन, उनके प्रति आत्म-निवेदन। अगर जीवन में ये तत्व, ये दिव्य गुण नहीं हैं, उसे और चाहे जो कहें, वह मनुष्य का जीवन नहीं है। जिसके हृदय में विकासोन्मुखी आत्मा है, सहायक और पथ-प्रदर्शक के रूप में भगवान बैठे हैं, वहाँ भागवत चेतना की उच्चता, दिव्यता, महानता झलकनी ही चाहिए। इनका प्रकटन ही सच्चे अर्थ में मानव-जीवन है।

समर्पण

समर्पण ! समर्पण के भाव को ही हमारे अंदर जीवन, चेतना और आत्म-अभिव्यक्ति का स्थान ग्रहण करना चाहिए। अपनी इच्छा या मांग जतानेवाला वहाँ कोई न रहे। सब कुछ पूर्ण रूप से प्रभु को निवेदित हो जाना चाहिए। श्रीमाताजी की 'राधा की प्रार्थना' हमारे लिए समर्पण के भाव को बिलकुल स्पष्ट कर देती है। साधकगण समर्पण के भाव को समझने और उसमें डूबने के लिए, इसे एक सुनहरी कुंजी की भाँति प्रयोग में लाते हैं। गीता में भी समर्पण का भाव सुंदर, सुनहरे शब्दों में, वर्णित है। 'मन्मनाभव' तथा 'सर्वारंभ परित्यागी' का भाव अगर हम हृदयंगम करें तो मन, प्राण, इंद्रियों की ये असंख्य मांगें, इनकी अमिट भूख मिटाने के हमारे अगणित प्रयास, इनके लिए रात-दिन की दौड़-धूप, अशांति, विक्षेप, तनाव में जीवन-ऊर्जा और चेतना का यह ह्रास, हमारे जीवन के अंग नहीं रहेंगे। वे स्वयं हमें छोड़ कर चले जायेंगे। और उनका स्थान एक दिव्य चेतना, आंतरिक मनोभाव, सत्य के प्रति उद्घाटन, आत्म-आदेश पालन में प्रसन्नता, नियुक्त कर्म की प्रतीक्षा में हर्ष, प्रभु-निर्भरता में आत्म-तुष्टि ग्रहण करेंगे। हमारी जीवन-धारा सत्य से उच्चतर सत्य की ओर, सीमित व्यक्तित्व से विश्वात्मा की ओर बहेगी। भागवत संकल्प की अभिव्यक्ति हमारा जीवन, कर्म और लक्ष्य होगा।

शर्त

भगवान की प्राप्ति मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। इस प्राप्ति को हम किस उपाय के द्वारा सिद्ध करते हैं, इसकी प्राप्ति के लिए कौन-सा साधन उपयोग में लाते हैं, यह इतना महत्वपूर्ण नहीं है। जिस वस्तु का महत्व है वह है प्राप्ति। भगवान को उन सभी ने पाया जो उन्हें पाना चाहते थे। उनको कोई भी, जो चाहे पा सकता है। भगवान की प्राप्ति अत्यंत सुलभ है, क्योंकि वे सबसे अधिक हमारे समीप हैं, सबसे अधिक हमारे अपने हैं। हमारी सत्ता के एक मात्र सत्य हैं। उनको पाने की शर्त या स्थिति जिसमें वे प्राप्त होते हैं वह भी बड़ी सरल, सहज सामान्य-सी है जिसे हर कोई पूरी कर सकता है। क्या बालक, क्या युवा, क्या वृद्ध, शिक्षित हो या अशिक्षित, धनी-मानी हो या निर्धन। सभी उन्हें समान रूप से जब चाहें तब प्राप्त कर सकते हैं। उनकी प्राप्ति की शर्त है उनके प्रेम के सिवाय, जब तक वे प्राप्त न हों, अन्य कुछ, अन्य कोई विषय हमारे मन, हृदय, शरीर और इंद्रियों को स्पर्श न करे। भूख और प्यास, निद्रा और विश्राम आदि सबका स्थान उनका प्रेम अर्थात् उनको पाने की लगन, उनके दर्शन की प्यास, उनसे मिलने की तड़प ग्रहण करे। इस स्थिति में उठते ही, हमारी सत्ता की भूख और तड़पन से भरी यह स्थिति उत्पन्न होते ही, हम देखेंगे कि लक्ष्य सिद्ध है।

जब हम सर्वभावेन, पूर्णरूपेण, भगवान के हो जाते हैं, भगवान भी हमारे हो जाते हैं। हम उनमें निवास करने लगते हैं। वे हमारे अंदर प्रकट हो जाते हैं। हम सब ओर उन्हें ही देखते, सब में उनको प्रेम करते, सब व्यवहार उनसे ही करते हैं। हमारा प्रेम निस्वार्थ, केवल उनके लिए, प्राणी मात्र में उनसे, हमारा स्वभाव निष्पक्ष, समत्व से भरपूर, हमारी सच्चाई पारदर्शी होती है। वे हमें बाँह पकड़ कर खींचते हैं। ऊपर उठाते हैं और हृदय से लगाकर हमारे ऊपर तथा हमारे जीवन पर अपना प्रेम और कृपा बरसाते हैं।

कर्म दो प्रकार के होते हैं, सहायक भी और बाधक भी। हम ऐसे कर्म करें जो जीवन-मुक्ति प्रदान करने में सहायक हों। ऐसे कर्म न करें जो आत्मा के लिए बंधन का कारण बनें, उसके विकास में बाधक हों। कुछ कर्म हैं जो हमारे पतन का कारण बनते हैं, हमें उनका त्याग करना चाहिए। अन्य कुछ ऐसे हैं जो पृथ्वी पर अवतरित आत्मा की उन्नति में अनिवार्य हैं। हमें किसी भी मूल्य पर उन्हें अपनाना चाहिए। सचेतन व्यक्ति शास्त्रोक्त शुभ कर्मों का चुनाव करते हैं, जो संसार में भागवत-यंत्रता प्राप्त करने में, जगत पिता के हृदय में प्रसन्नता उत्पन्न करने में हितकर सिद्ध होते हैं।

उच्च जीवन

हे मानव ! अपने वर्तमान स्तर से ऊपर उठ ! अपने स्वभाव को बदल। अपनी व्यक्तिगत और सामुदायिक, जातीय और साम्प्रदायिक सभी सीमाओं से बाहर आ ! एक उच्च जीवन में निवास कर और देख, चेतना की उच्चता एवं विशालता से भरे जीवन में कितना आनंद है, कितनी स्वतंत्रता है ! किसी प्रकार की कोई संकीर्णता, कोई बोझ हम अनुभव नहीं करते। उस स्तर पर, उस चेतना में, जहाँ अहंकार की कारा नहीं, क्रोध की जलन नहीं, हिंसा की भावना से उत्पन्न संताप से हम मुक्त रहते हैं, द्वेष और दुश्चिन्ता हमें छूती नहीं। आवेगों की व्याकुलता से ऊपर रहते हैं। भय और संकट का मानों नाम ही नहीं। इंद्रियों की दासता और मोह का दलदल जहाँ दूर है, आत्मिक प्रेम और प्रसन्नता जहाँ भरपूर है, आत्मा की दिव्यता से झलकता, उसके प्रकाश से प्रकाशित, प्रभाव से प्रभावित गुणों और शक्तियों से ओत-प्रोत जीवन, आज हमारी पहुँच के अंदर है। अगर हम चाहें, संकल्प लें, अभीप्सा करें, मूल्य चुकाने को उद्यत हों तो इस नये जीवन में प्रवेश कर सकते हैं। जीवन का यह स्तर हमारा हो सकता है। हम मनुष्य के सामान्य स्तर से ऊपर उठ सकते हैं और दूसरों को भी उठाने में सहायता कर सकते हैं।

अपने जीवन और चेतना के वर्तमान स्तर से ऊपर उठना, आत्मा की मुक्तावस्था में निवास करना, उन समाधानों में से

एक है, जिसकी अभिलाषा मानव-आत्मा अपने अंदर चिर पोषित किये है। हम अपने वर्तमान व्यक्तित्व से, स्वभाव से तभी ऊपर उठ सकते हैं जब हमें उच्च जीवन का महत्व, उसका मूल्य ज्ञात हो, हम उसके विषय में सचेतन हों, तभी उसके प्रति अभीप्सा जगेगी। उसके लिए वर्तमान उपलब्धियों का बलिदान करने को हम उद्यत होंगे। हमारी भूल यही है कि हम अपनी वर्तमान उपलब्धियों से संतुष्ट हैं— चाहे वे जो भी हैं, जैसी भी हैं, महान हैं अथवा तुच्छ हैं। हमें अपने व्यक्तित्व के साथ अपना जीवन, अपनी उपलब्धियाँ, अपने साक्षात्कार और सिद्धियाँ भी भगवान को समर्पित कर देनी चाहिएँ, तभी हमारे अंदर नये व्यक्तित्व का, नई चेतना का जन्म संभव होगा तथा नई वस्तुएँ, जो आज पृथ्वी पर अवतरित हो रही हैं, उनके मूल्यों के प्रति आदर भाव एवं आकर्षण उ त्पन्न होगा।

जो मनुष्य जीवन में आत्मा के गुणों को उतारना चाहता है, उसके स्वभाव में दुर्गुणों का पूर्ण अभाव, हृदय का जग-व्यसनों से पूर्णतया रिक्त होना अनिवार्य है। तभी दिव्य गुणों के लिए स्थान सुलभ होता है। दिव्य वस्तुओं के लिए प्यास जगती है, अभीप्सा उठती है। प्रभु के लिए पुकार तीव्रतर होती है, हम उनमें प्रवेश पाने लगते हैं, दूरी मिटती है। हम अनंत अमृत-सिंधु के अधिकाधिक समीप होते जाते हैं।

दर्पण

हमारी चेतना का स्तर सामान्य मानसिक स्तर से ऊँचा होना चाहिए, जिससे कि उसमें आंतरिक सत्य निर्बाध गति से प्रवाहित हो सके। हमारा व्यक्तित्व इतना अहंशून्य, इतना नमनीय होना चाहिए कि उसमें आत्मा का स्वरूप, उसका स्वभाव, उसके गुण, बिना किसी मिश्रण के प्रतिबिम्बित हो सकें। सच्चाई हमारे जीवन का आधार होना चाहिए। समर्पण हमारा स्वभाव। अपनी चेतना में, अपनी संपूर्ण सत्ता में परिवर्तन लाना, उसे एक ऊँचे धरातल पर उठाना, आत्म-अभिव्यक्ति का साधन बनाना, यही हमारा कर्म है। हमें यह सब इसीलिए करना है, इतना महान परिवर्तन इसीलिए लाना है, क्योंकि हमारे पूर्ण आत्म-विकास के लिए यही श्रेयस्कर है।

जिन्होंने हमें जीवन प्रदान किया है, जिनकी कृपा से जीवन चल रहा है, वे अंतस्थ देव हमें सदैव, सब स्थितियों में, सब गतिविधियों में, सब भावों में अंदर-बाहर पूर्ण सच्चा और समर्पित देखना चाहते हैं। जब हम अपने आंतरिक सत्य के साथ समस्वर होते हैं, वे हमारे आंतर और बाह्य कर्मों में, हमारे संकल्प और चुनावों में प्रतिबिम्बित होते हैं, व्यक्तिगत सुख-शांति के लिए नहीं, इन हृदय-निवासी जीवन-प्रभु की प्रसन्नता के लिए हमें पूर्ण सत्यनिष्ठ, पूर्ण समर्पित होकर जीवन-यापन करना चाहिए।

आत्म-प्रसन्नता

हमारी आत्मा सब समय हमें भीतर से देख रही है कि हम क्या कर रहे हैं। किस दिशा में जा रहे हैं। कब किस इच्छा की पूर्ति में व्यस्त हैं। किस आवेग अथवा आदर्श ने हमें पकड़ा है। कब हम आलस्य अथवा प्रमाद के कारण अथवा जीवन के प्रति असंतुष्टि के कारण, निराशा में निष्क्रिय पड़े हैं। वह यह सब देखती है। उससे कुछ छिपा नहीं है।

कम ही ऐसे हैं, जिन्होंने लंबा रास्ता तय कर लिया, जिनके आंतरिक तप-त्याग से भरे भावों को, संयम के साये में प्रवाहित, सुभग समर्पित जीवन को देख कर, उनके भीतर, उनकी आत्मा आनंदित होती है।

मानव-मात्र के लिए जिनका प्रेम असीम है, प्राणिमात्र के प्रति दया का भाव जिनकी सत्ता में सर्वोपरि है, सब के मंगल की कामना से जिनका हृदय भरा रहता है, जिनका जीवन प्रभु के इंगित पर निर्भर करता है, उनके लिए, उनकी आत्मा कृपा का आह्वान करती है, उनके जीवन-आंगन में मंगल बरसाती है और भागवत-विजय-पताका फहराती है।

"सच्चाई से भरे जीवन में ही आत्म-अभिव्यक्ति संभव होती है। सच्चाई आध्यात्मिक जीवन का आधार है। सच्चा व्यक्ति ही पूर्ण समर्पित हो सकता है। उसे ही प्रभु चुनते हैं, धरा-धाम पर अपने दिव्य कर्म के लिए यंत्र बनाते हैं।"

स एव सर्वम्

सारी सृष्टि भगवान की रचना है, उनकी आत्म-अभिव्यक्ति है। शास्त्र इसे उनकी लीला भी कहते हैं, जिसमें मानव-आत्मा भाग लेने के लिए अवतरित होती है। इसे एक नाटक के रूप में भी देखा जाता है, जिसमें प्रभु ही मंच हैं, प्रभु ही कलाकार हैं, प्रभु ही अभिनय और दर्शक हैं। कुछ भी कहें, यह सब जो है, उनका आत्म-प्रकटन है। जो उन्होंने अपने लिए, अपने अंदर स्वयं किया है। नाटक कहें या लीला, जो भी हो, इसे समझने के लिए हमें इसके पीछे जाना होगा। वस्तुओं में छिपे सत्य को खोजना होगा।

अपने व्यक्तित्व के विषय में हमारी जो धारणा है, वह भूल है। जिसे हम अपना समझते हैं, वह केवल हमारी बाह्य सत्ता है। हमारे व्यक्तित्व का सत्य नहीं, हमारा सच्चा स्वरूप नहीं। हमारा सच्चा स्वरूप, सच्चा व्यक्तित्व, हमारे इस बाह्य पुरुष के, इन तन-मन रूपी यंत्रों के पीछे, इनके भीतर दूर स्थित है। वह एक ज्योतिर्मय पुरुष है, जो दिव्य है, अजर है, अमर है, देश और काल के परे, जन्म-मरण से रहित है।

अपने भीतर छिपी इस आत्मा को केवल वे ही नर-पुंगव प्राप्त करते हैं, जो इसके लिए अभीप्सा करते हैं, इसके चिंतन में डूबे रहते हैं। जो इसके लिए जीवन का हर सुख बलिदान करने को उद्यत रहते हैं। इंद्रियों के आवेग, भोगों की कामना, संग्रह की वृत्ति जिन्हें स्पर्श नहीं करती। काम, क्रोध,

लोभ, मोह रूपी दुर्बलताओं का, स्वार्थ और अहंकार से सने भावों का त्याग करते हैं। जिनका मन अपनी पूर्ण एकाग्रता में दीपक की लौ की भाँति सदा ऊपर की ओर उठता रहता है। जिनका हृदय निर्मल है, पूर्ण शुद्ध है, उसमें आसक्ति और वासना जैसी वस्तुओं के लिए कोई स्थान नहीं। जिनकी मानवीय सत्ता मंदिर का रूप ले चुकी है। जिनके जीवन का आधार केवल सच्चाई, आत्म-समर्पण और भागवत प्रेम रह गया है। जिनकी अभीप्सा जग-रूपांतर है, जिनका स्वभाव दयालु, परोपकारी है, जिनमें एक ही चाह है— प्रभु-सेवा, जिनका कर्म केवल प्रभु-आदेश-पालन है, इसी एक कर्म में जिनके सारे कर्म सन्निहित हैं, जिनके जीवन का एक ही लक्ष्य है, धरती पर दिव्य जीवन की स्थापना। ये संसार में भागवत यंत्र हैं, धन्यता के प्रथम पात्र हैं।

हमें अपनी आत्मा को खोजना और उसके साथ सतत तादात्म्य संभव बनाना है। हमारा वर्तमान जीवन विश्व-जीवन की एक तरंग है, हमारा व्यक्तित्व विश्व-पुरुष का एक अंग है। विश्व-पुरुष के साथ एकत्व लाभ करके हम सही अर्थ में व्यक्ति होते हैं, अर्थात् मन-परिधि से बाहर आते हैं, क्षुद्र अहंजन्य व्यक्ति-सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं।

पर्दा हटायें

हृदय का पर्दा हटते ही, आत्मा सामने आ जाती है, उसकी ज्योति जीवन पर छा जाती है, हमारे अंदर भागवत उपस्थिति जो अब तक छिपी हुई थी, सम्मुख आ जाती है, अहंकार की ग्रंथियाँ खुल जाती हैं, हम आत्म-सत्य में निवास करते हैं। हमें अपने चारों ओर वस्तुओं में, मनुष्यों में, सर्वत्र प्रभु के दर्शन होते हैं। हमारा व्यवहार उन्हीं के साथ होता है, हर प्राणी के प्रति सम्मान प्रकट करने में हमें एक अलौकिक आनंद की अनुभूति होती है। सृष्टिकर्ता के दिव्य संकल्प के प्रति हम सचेतन हो जाते हैं। उसकी अभिव्यक्ति को जीवन-लक्ष्य के रूप में निर्धारित करते हैं, आंतर्सत्ता के साथ हमारा तादात्म्य सतत बन जाता है। आत्मा का माधुर्य हमारी वाणी में, जीवन में, कर्मों में, प्रवाहित होने लगता है।

ऐसे व्यक्ति-विशेष के व्यवहार में मिठास आ जाता है, उसके वातावरण में शांति, मधुरता, दिव्यता छायी रहती है। उसकी समीपता हमें अच्छी लगती है। उसके पास बैठ कर हम आनंद अनुभव करते हैं। दूसरे श्ब्दों में, जिस व्यक्ति का पर्दा हट जाता है, वह जन-जन के आकर्षण का केन्द्र हो जाता है; सभी उसकी वाणी सुनना चाहते हैं, उसका स्पर्श, उसका दर्शन, उसकी समीपता चाहते हैं। हमारा अंतर उसकी ओर खिंचता है। वह सबके लिए प्रसन्नता का, प्रेरणा का, उत्साह और सांत्वना का निर्झर होता है।

मानव हृदय : एक द्वार

शास्त्रों के अनुसार संसार में बुद्धिमान व्यक्ति वही माना जाता है जो आत्मा में निवास करता है। जिसने आत्म-साक्षात्कार को जीवन-लक्ष्य के रूप में चुना और आत्म-सत्य की अभिव्यक्ति को जीवन का स्वरूप प्रदान किया। आत्मा के गुणों को अपने स्वभाव में उतारा और आत्मा का आदेश-पालन ही एक मात्र कर्तव्य-रूप में निर्धारित किया।

हमें चाहिए कि आत्मा का अनुसंधान करें। आत्मा ही सत्य है। यह सारा संसार उसी की अपने अंदर अपनी आत्म-अभिव्यक्ति है। यहाँ जो भी है, जो हमें दिखता है अथवा नहीं दिखता, उस सब का आदि मूल वही 'एकमेवाद्वितीयम्' आत्मा है। उसे ही परमेश्वर, परब्रह्म, परमात्मा आदि नामों से संबोधित किया जाता है। वह एक दिव्य, चेतन पुरुष है। हम किसी भी नाम से पुकारें, किसी भी मार्ग से प्राप्त करें, इसमें कोई अंतर नहीं। असली चीज है उसकी प्राप्ति। उसकी प्राप्ति के पश्चात् हम देखेंगे क़ि जो वस्तु हमने प्राप्त की है, वह हमारी सत्ता और जगत-सत्ता का मूलभूत सत्य है और उसकी प्राप्ति के हित हमने जो कष्ट उठाये, जो त्याग किये, तपस्याएँ कीं, बलिदान किये, यंत्रणाएँ सहीं, अपने आपको मिटाया, हानि स्वीकार की, अपमान के घूंट पिये, वह सब — जो हमने पाया उसकी प्राप्ति की तुलना

में — नहीं के बराबर है। वह चेतन पुरुष हर प्राणी के अंदर निवास करता है। उसकी प्राप्ति की क्षमता, उसकी संभावना हम सबके अंदर है। हमारी सत्ता में हमारा हृदय उसका निवास-स्थान है। सर्वव्यापक होते हुए भी वह व्यक्तिभावापन्न दिव्य उपस्थिति के रूप में वहाँ विराजमान है। हम उससे संबंध स्थापित कर सकते हैं। अपने आत्म-विकास में उसकी सहायता ले सकते हैं। उसे समर्पित होकर, उसकी शरण ग्रहण कर, उसके पथ-प्रदर्शन में चल कर जीवन को उन्नत, सुखी, अर्थपूर्ण, ज्योतिर्मय बना सकते हैं।

मानव-जन्म और जीवन का अर्थ है, अचेतनता से सचेतनता की ओर यात्रा, आत्म-अज्ञान से आत्म-ज्ञान में, भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन में उत्थान। सीमित व्यक्ति-चेतना का विश्व-पुरुष की चेतना में विकास। साकार जगत में, इन दृश्यमान वस्तुओं और प्राणियों में छिपी भागवत उपस्थिति को खोजना, बाह्य सत्ता के पीछे अपनी आंतर्सत्ता को उपलब्ध करना और उसे जीवन में अभिव्यक्त करना।

यह सब संभव है, अगर हम अपने हर विचार एवं भाव के प्रति सचेतन हो जायें। मन और इंद्रियों को शुद्ध तथा संयमित करें। जग-विषयों में अत्यधिक प्रवृत्त न होकर अन्तर्मुखी वृत्ति अपनायें, ईश्वर में आस्था दृढ़ रखें, जीवन का स्तर ऊँचा उठायें अर्थात् अपने कर्मों को सुधारें, केवल श्रेष्ठ कर्म करें। हमारा आचरण आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत हो।

चैत्य सत्ता

हमारा सच्चा व्यक्तित्व हमारा चैत्य पुरुष है जो हमारी बाह्य सत्ता के पीछे गहराई में स्थित है। हम पूर्ण शांत, शुद्ध, नीरव होकर ही वहाँ पहुँच सकते हैं। हमें आत्म-मंगल के लिए, आत्म-विकास के लिए, वहाँ पहुँचना और स्थित होना सीखना है। यहीं हमें आंतर वाणी प्राप्त होती है। जीवन-पथ पर सही ढंग से चलने की प्रेरणा का स्रोत यहीं है।

जीवन की नाजुक घड़ियों में, संकटमय स्थितियों में, पतन की संभावनाओं में, दृढ़ता और धैर्य को बनाये रखने की क्षमता, श्रद्धा को अटूट रखने की प्रेरणा, परिस्थितियों पर विजय पाने का संकल्प, सब विघ्न-बाधाओं को निर्मूल कर आगे बढ़ने का अदम्य उत्साह, किसी भी प्रकार के विरोधी अथवा आसुरी प्रभाव को पद-दलित करने की शक्ति, सत्य की अंतिम विजय में विश्वास आदि दिव्य गुण, दिव्य प्रेरणाएँ हमें इसी वातावरण में विद्यमान दिव्य उपस्थिति से प्राप्त होते हैं।

आत्मा की ओर मुड़ने में, आत्म-साक्षात्कार करने में, जीवन को आत्मा की अभिव्यक्ति का रूप देने में, मानव-जीवन की सच्ची सफलता है। सृष्टि में आत्मा के अवतरण का औचित्य सिद्ध होता है, उसका दिव्य प्रयोजन सार्थक।

मार्ग के रोड़े

आंतरिक सत्य की अभिव्यक्ति को जिन्होंने जीवन-लक्ष्य के रूपमें चुना है, इसी शरीर में रहते हुए जिन्हें नया जन्म चाहिए, जो आत्मा का साक्षात् और उसमें निवास चाहते हैं, उसी से प्रेरित होकर जीवन-मार्गों पर चलना चाहते हैं, ऐसी चेतना में उठना चाहते हैं जिसमें आत्म-ज्योति झलकती हो, आत्म-सत्य प्रवाहित होता हो; उन्हें चाहिए कि वे अपनी सत्ता के सर्वोच्च स्तर पर निवास करें। किसी भी स्थिति में जीवन के निम्न स्तरों पर न आयें। मनोरथों के जाल न बुनें। इंद्रिय-सुख की कामनाओं से, भोगों की स्पृहा से दूर रहें। अहंकार की चालों को पहचानें, उसके प्रभाव में न आयें।

अज्ञानजनित पुराना स्वभाव, उसकी अभ्यासगत वृत्तियाँ, अध्यात्म-मार्ग में, हमारी आत्म-उपलब्धि में बाधक होते हैं, मार्ग में राड़े हैं।

श्रीअरविंद और श्रीमाताजी की शिक्षा में हम देखते हैं कि हमारी व्यक्तिगत सत्ता का सर्वोच्च स्तर हमारा चैत्य पुरुष है जो सदैव भगवदोन्मुखी है। चैत्य पुरुष के प्रभाव में रह कर जीवन-यापन करने से, उसके हाथों में अपनी जीवन-तरी की पतवार थमा देने से, हम निर्बाध गंतव्य उपलब्ध करते हैं।

सही भाव

सबसे पहले हमें सत्य के अन्वेषक व्यक्ति का शास्त्रोक्त आंतरिक मनोभाव खोजना और जानना होगा। उसे उपलब्ध कर उसमें स्थित होना होगा। उसी में रह कर जीवन के सब कर्म करने होंगे। जगत की ओर से जो भी आये, जो भी हमारे ऊपर थोपा अथवा फेंका जाये, हमें उसी आंतरिक मनोभाव में ग्रहण करना होगा और उसी में रहते हुए इसके प्रति उचित प्रतिक्रिया करनी होगी।

हमारे सब कर्म, भाव, विचार और प्रतिक्रियाएँ भीतर से चालित होनी चाहिएँ। उनकी प्रेरणा के स्रोत हमारे हृदयेश्वर होने चाहिएँ। इससे जरा भी निम्न स्तर की वस्तु अथवा जरा से मिश्रण के साथ, एक अहं भावापन्न चेतना की अल्पांश अभिव्यक्ति की छाया भी हमें अस्वीकार होनी चाहिए। व्यक्तिगत स्तर पर प्रतिक्रियाएँ, मांगें, शिकायतें, अधिकार के दावे जैसी चीजों के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। एक सत्य के अन्वेषक के लिए, जिसे प्रतिक्षण, प्रति पग पर, आंतरिक सत्य को ही चरितार्थ करना होता है, ये सब चीजें विजातीय हैं, अतः त्याज्य हैं।

समर्पण का सच्चा अर्थ हमें जानना होगा। अभीप्सा की सही परिभाषा हमें समझनी होगी। आत्म-दान और आत्म-निवेदन के गहन भाव में हमें उतरना और पैठना होगा। इन भावों की परिपूर्णता में देखेंगे कि हम यह वर्तमान क्षुद्र,

अहंभावापन्न व्यक्तित्व नहीं हैं। सब प्रभु पाद-पद्मों में पुष्प की भाँति समर्पित कर देने से हम प्रभु के हो जाते हैं, उनके द्वारा स्वीकार कर लिये जाते हैं। प्रभु हमें अपनी प्यारी संतान कह कर अपना हृदय प्रसन्न करते हैं, जीवन-मार्गों पर साथ चलते हैं, निष्कामता का पाठ पढ़ाते हैं। मानव मात्र के आत्म-मंगल हित जीवन यापन करना सिखाते हैं। उनके इंगित पर चल कर हम जीवन की सर्वोच्च देन से लाभान्वित होते हैं। हमारी सत्ता अपने सब अंगों में, आत्म-दिव्यता से भर उठती है। आंतरिक ही नहीं, बाह्य भी, हृदय और मन ही नहीं, शरीर भी, अपनी जड़ता तथा अचेतनता से ऊपर उठ कर, दिव्य चेतना को धारण करता है और उसमें रूपांतरित हो सकता है। हम मनुष्य के स्वाभाविक स्तर का पूर्णतः अतिक्रमण कर जाते हैं। अतिमानवता में हमारा उत्थान स्थायी हो जाता है। जहाँ आत्म-सत्य की उपलब्धि, उसमें सतत निवास, उसकी अभिव्यक्ति हमारा स्वाभाविक कर्म बन जाता है।

जिस दिव्य सूर्य की एक किरण से सृष्टियाँ जगमगाती और जीवन पाती हैं, हे मानव! उस सूर्य का केंद्र तेरे हृदय में है। तू वह है। वही तू है। हृदय का पर्दा हटते ही यह अनुभूति हमारी अपनी हो जाती है।

दिव्य क्षण

हमें जीवन के प्रति सचेतन होना है। इसके मूल्य को पहचानना है। अगर हम चाहें, लक्ष्य-रूप में चुनें, अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर सकते हैं। अपने वर्तमान अज्ञानमय जीवन को एक उच्च आध्यात्मिक जीवन में परिवर्तित कर सकते हैं। हमारा प्रवेश अतिमानसिक चेतना में संभव हो सकता है। हम उसके अवतरण को अपनी सत्ता में, अपने जीवन में संभव बना सकते हैं और फलस्वरूप अपनी संपूर्ण सत्ता तथा जीवन के हर क्षेत्र को दिव्य स्वरूप प्रदान कर सकते हैं।

आज हम एक ऐसे स्वर्णिम काल से गुजर रहे हैं जिसे बड़ी सरलता से देव-मुहूर्त कहा जा सकता है। हमारे लिए एक ऐसा अपूर्व वातावरण पृथ्वी पर उपलब्ध है जो आत्म-विकास के लिए, सब भाँति उपयुक्त है। जहाँ दिव्य शक्तियाँ हमारी सहायता के लिए सुलभ हैं। जो सर्वोच्च चेतना के प्रकंपनों की सर्वाधिक तीव्रता से ओत-प्रोत है।

यह अनिवार्य नहीं कि ऐसा उपयुक्त वातावरण हमें अगले जन्म में मिलेगा ही। संपूर्ण सत्ता के समग्र विकास के लिए उसके दिव्यीकरण के लिए आवश्यक सहायता तथा मार्ग-दर्शन, धरती पर सदैव उपलब्ध नहीं होता। इस विषय में श्रीमाताजी का इंगित इसी ओर है।

चैत्य भाव

अपने विचार से हम चाहे जितना भी शुद्ध, सात्विक या ऊँचा जीवन बितायें, लेकिन यह ठीक वही चीज नहीं होती जो होनी चाहिए, जिस चीज की मांग हमारी आत्मा हमसे करती है। वस्तुओं के ग्रहण में और उनके त्याग में, हम वही भाव नहीं ला सकते, उसी चेतना से नहीं कर सकते, जो कि हम तब करते हैं, करने में समर्थ होते हैं, जब हम अपने भीतर चैत्य सत्ता से युक्त रह कर, उसी के चलाये चलते हैं, उसी के संकल्प को हर क्रिया में, हर घटना में चरितार्थ करते हैं। कारण, इस अंतर्निहित भागवत अंश के साथ, इस चैत्य सत्ता के साथ, सतत सचेतन संपर्क बनाये बिना, हम विश्व-सत्ता के संकल्प को, उसके विधान को ठीक-ठीक नहीं समझ सकते और उन्हें ठीक-ठीक समझे बिना हम जो भी करते हैं वह सब यथातथ न होकर अपतथ ही, आंतरिक सत्य की अभिव्यक्ति के विपरीत ही, अधिकांश रूप में होता है।

मनुष्य सचेतन नहीं हैं। इसीलिए जीवन-मार्गों पर भटक रहे हैं। वे या तो अहंकार की संतुष्टि में अथवा इंद्रियों की तृप्ति में ग्रस्त हैं। कम ही हैं जिनके जीवन का स्तर ऊँचा है। जिनके जीवन में आत्म-प्रकाश की झलक है, जिनके विचारों में विवेक है, जो स्वार्थ और अहंकार से ऊपर उठे हैं।

अचेतनता

इंद्रियों के विषय दलदल के समान बताये गये हैं। इनमें हमारी चेतना के पतित होने का अर्थ है, जीवन की गति का अधोमुखी होना, आत्म-विकास का रुकना, उसका कई जन्म पीछे हट जाना। जब हमारे चित्त को इंद्रियाँ मोह लेती हैं, हमें विस्मृति हो जाती है, हम आत्म-अचेतनता से घिर जाते हैं। हमारी सजगता चली जाती है। जिसके लौटने में, पुनः पूर्व सचेतनता प्राप्त करने में जन्म लगते हैं। अचेतनता की इस अवस्था में — हम कौन हैं, कहाँ से आये, जगत क्या है, पृथ्वी पर जन्म लेने का प्रयोजन क्या है, मृत्यु क्या है और मृत्यु के पश्चात् क्या घटित होता है, उसकी व्यवस्था कौन करता है इत्यादि एक ओर, तथा जिस कर्म में हम प्रवृत्त हैं, इस कर्म का फल क्या होगा दूसरी ओर, ये सब प्रश्न तथा इस प्रकार की अन्य शंकाएं हमारे अंदर नहीं उठतीं। हमारी चेतना पर पर्दा पड़ जाता है। अंतर्ज्योति छिप जाती है। हम आत्मा से दूर हो जाते हैं। यह इंद्रिय-जीवन है। हमारा शारीरिक चेतना में पतन है। जहाँ पशुता का प्रभाव, उसका शासन स्वाभाविक स्थिति है। शास्त्रों में इसे आत्म-विकास के पथ में महान क्षति कहा गया है। जिसकी पूर्ति प्रथम तो कठिन है, दूसरे उसके लिए भारी मूल्य चुकाना होता है।

धन्य हैं

धन्य हैं वे सब पृथ्वी माता के सुपुत्र, जो दूसरों के लिए जीते हैं, जिनके जीवन ने बलिदान का रूप लिया है, विश्व-यज्ञ में एक आहुति बन गया है। वे भी धन्य हैं जो अपनी चिन्ता नहीं करते, अपने लिए नहीं जीते। जीवन तथा उपलब्धियाँ, भगवान को सौंपे हुए हैं। उन्हें सम पिंत हैं, उनके लिए जीवन यापन करते हैं, उनका आदेश-पालन ही जिनका जीवन है। वे भी धन्य हैं जिन्हें अंतर-आदेश प्राप्त होते हैं। हृदयेश्वर ही जिनके प्रेरक और चालक हैं। जिनकी समझ में यह बात भली प्रकार आ गयी है कि अंतर्सत्य से रहित, अंतर्प्रेरणा से विहीन जीवन एक धोखा है।

यह चालक मानव मात्र के हृदय में स्थित है, यही जीवन-स्वामी है। जब हमारा जीवन इसके दिव्य संकल्प की अभिव्यक्ति हो जाता है, सीधी अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेता है, वह सफल कहलाता है। शास्त्रों में ऐसे जीवन को ही जो कि वास्तव में हमारे अंतस्थ पुरुष के संकल्प की चरितार्थता होता है, मुक्त जीवन कहा गया है।



बाधक वस्तु का त्याग

हमारा वर्तमान जीवन, नाना दिशाओं में हमारी यह भाग-दौड़, इच्छाएँ — जिनकी पूर्ति में हमें किसी गहन विचार के लिए समय नहीं मिलता, कर्मों का यह चुनाव, उनमें व्यस्तता, भोगों में ग्रस्तता, जीवन का वह स्वरूप है जो हमारे अहंकार के द्वारा प्रदान किया गया है। इस विषय में पूर्ण रूप से असंदिग्ध होकर हम यह कहने में समर्थ नहीं हैं कि हमारी जीवन-धारा, हमारे गंतव्य की दिशा, हमारा चुनाव ठीक वही हैं जो हमारे अंदर स्थित जीवन-स्वामी के संकल्प की अभिव्यक्ति है। हमें तब तक अपनी जीवन-धारा की दिशा, कर्म करने का भाव, जीवन का स्तर बदलते, ऊँचा उठाते, और विकसित करते जाना होगा जब तक कि सब कुछ आंतरिक और बाह्य, हमारे अंतःस्थित देव के संकल्प की चरितार्थता न हो जाये। तब तक हमें अपने पुराने स्वभाव में से वे सब चीजें त्यागते, बढ़ते चलना होगा जो इसमें बाधक हैं और उन सब चीजों को ग्रहण करते, जीवन का अंग बनाते जाना होगा जो इसमें सहायक हैं। यह कर्म हमें पूर्ण सचेतन होकर, पूर्ण निष्पक्षता के साथ करना होगा। इसमें साक्षी भाव हमारी सहायता करता है। अगर हम स्थिति से बाहर आकर, उससे ऊपर उठ कर, उसका अवलोकन करें, अपनी दृष्टि को, आत्मा की दृष्टि की भाँति तीक्ष्ण और पारदर्शी बना सकें, तो हम स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उन शक्तियों

को जान सकते हैं जिनके प्रभाव में हम होते हैं। हमें घटनाओं के प्रवाह में बह नहीं जाना है बल्कि तटस्थ रहना है। आंतरिक सत्य को पकड़े रखना है। जीवन के लक्ष्य को, समर्पण के भाव को भूल नहीं जाना है। भागवत कृपा का आह्वान तब तक करते जाना है, जब तक आत्मा के संपर्क में न पहुँच जायें और उसके संकल्प का ज्ञान हमें स्पष्ट न हो जाये।

जो सत्य को पाना चाहता है उसे असत्य से बाहर आना होगा।
जिसे आत्म-ज्ञान चाहिए, आत्म-अज्ञान से ऊपर उठना होगा।
जो भगवान को चाहते हैं, उन्हें समर्पित जीवन जीना और उसे सर्वत्र, सबमें देखना सीखना होगा।

आत्म-उपलब्धि के लिए अहंकार का स्थान, अंतश्चेतना को देना होता है। अंतस्थ देव के पथ-प्रदर्शन में, उसी की प्रेरणा के अनुसार हर कर्म करना होता है।

मुक्ति के लिए एक ही शर्त है — अहंकार और वासना का त्याग, अर्थात् सीमित व्यक्ति चेतना के स्थान पर विश्व-चेतना में उत्थान और वासना के स्थान पर समर्पण का भाव।

दिव्य प्रयोजन

हमें चाहिए कि हम जीवन को गंभीरतापूर्वक ग्रहण करें। मार्गों पर कुछ गहरे चिंतन के साथ पग रखें। मानव-जीवन एक महान घटना है। यह जीवन आत्मा का है। मानव रूप में आत्मा ही धरती पर अवतरित होती है। वही आवागमन में घूमती, जीवन के दिव्य प्रयोजन की खोज करती और अंत में उसे सिद्ध करती है। मनुष्य के सामान्य जीवन को एक उच्च आध्यात्मिक जीवन में परिवर्तित करना, उसकी सीमित चेतना और दृष्टि को आत्मा की असीमता में उठाना, उसे आत्म-दृष्टि से, वस्तुओं के सत्य-बोध से सम्पन्न करना, भू-जीवन में उसके अवतरण का दिव्य प्रयोजन है।

आत्म-सत्य में उठना, अपने सच्चे स्वरूप में स्थित होना, अंतस्थ प्रभु के संकल्प को जानना, विश्वव्यापी भागवत इच्छा का पता लगाना, योग-मार्ग का अनुसरण करने से संभव है। भोगों में ग्रस्तता का अर्थ है, हम अंतर में जागे नहीं, हमारे भीतर हमारी आत्मा सुप्त है। हमने जीवन का, आत्मा के भू-जीवन में अवतरित होने का अर्थ अभी समझा नहीं। अर्थात् हमारी आत्मा, हमारा वर्तमान जीवन आत्म-अज्ञान से आच्छादित है, हम अचेतन हैं।

जीवन-मार्गों पर सचेतन होकर चलना, ऊँची बुद्धिमता है। मानव-चेतना का सही स्तर है। सचेतनता आत्म-उपलब्धि में प्रथम पग है। सचेतन बनने के लिए हमें अंतमुर्खता का

भाव अपनाना होता है। वस्तुओं और घटनाओं से पीछे हट कर उनका सही अवलोकन करना होता है। इस प्रक्रिया की सफलता के लिए चित्त की स्थिरता अनिवार्य है।



हमें यह समझना है कि जिन विचारों को हम अपने मानते हैं, वे भीतर से ही नहीं आते, उनका स्तर सदैव एक नहीं होता, ये सब वस्तुएँ, विचार, भाव, वृत्तियाँ आदि, तरंगों की तरह बाहर से भी, विश्व-प्रकृति-सिंधु से भी आ सकती हैं और आती हैं। अगर हम इनके द्वारा प्रभावित होने से पूर्व, इनके स्तर को, इनके उद्‌गम को समझ सकें, इनका ग्रहण और त्याग अंतस्थ पुरुष के हाथों में छोड़ सकें अर्थात् उनकी अनुमति पर निर्भर करें तो हम अपनी सत्ता पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने में सफल हो सकते हैं।

नियंत्रित सत्ता ही समर्पित हो सकती है, उसी में नई चेतना का बीज बोया जा सकता है। नियंत्रित सत्ता ही कर्तव्य में आनन्द लेती है, उसी में पूर्ण उद्‌घाटन की संभावना होती है, जीवन-स्वामी के आदेश पर अपने सर्वस्व की आहुति दे देने को सदा उद्यत रहती है।

पीछे हटना सीखें

अगर हम सुख, शांति और आत्म-उन्नति चाहते हैं तो घटनाओं से पीछे हटना सीखना होगा। जो घटनाएँ हमें अशांत कर रही हैं, उनसे अपने आपको पीछे खींचना है, एक गहन प्रेक्षण करना है कि इन सबके पीछे कौन-सी शक्तियाँ हैं। हम किन शक्तियों के हाथ में हैं और वे हमें किस दिशा में ले जा रही हैं। घटनाओं में एक बार पूरी तरह डूबने के पश्चात् प्रायः ही यह कठिन होता है कि हम जब चाहें उनसे बाहर आ जायें। घटनाओं में यह ग्रस्तता प्रायः हमारे प्राणिक अहंकार की होती है। आत्म-अज्ञान रूपी अंधकार से भरे जीवन में जहाँ आत्म-ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश अति दूर होता है, जहाँ सब अहंकार से ही शासित एवं चालित होता है और भय, संकट, दुख और विनाश को छोड़कर कोई सुख या सत्पथ हमें दृष्टिगोचर नहीं होता, हमारी सत्ता का यही भाग होता है। प्राणमय पुरुष जीवन-तरी को अपने ढंग से निम्न स्तर की इच्छाओं की पूर्ति की दिशा में मोड़ता रहता है। प्राणिक अहंकार हमारे अंदर एक अंधकारपूर्ण व्यक्तित्व है जिसमें काली, कुत्सित, कुरूप और भयंकर विनाशकारी वृत्तियाँ भरी होती हैं, जिनकी गति अधोमुखी होती है। अगर हम समय रहते इनकी गति में दिशा-परिवर्तन न करें तो एक भीषण पतन की संभावना बनी रहेंगी।

जीवन - एक पहेली

धरती पर मानव-जन्म और जीवन एक पहेली है। जो इस पहेली के रहस्य को नहीं समझ पाते, इसका हल नहीं खोज लेते, वे जीवन-मरण के दुखान्त मार्गों पर अनंत काल तक अर्थात् जिसकी गणना हमारी पहुँच के बाहर है, भटकते हैं। यह पहेली, जिसका हल हमें खोजना है, हमारा आत्म-अज्ञान है। इस समय अपने विषय में जो हमारी धारणा है, हम जिसे अपना आप समझ रहे हैं, यह मन, यह शरीर, इंद्रियाँ आदि, हम नहीं हैं। यह हमारी सत्ता का आंशिक सत्य है अर्थात् केवल बाह्य रूप है। ये हमें यंत्र के रूप में मिले हैं जिनके द्वारा हमें अपनी आत्मा को, सत्ता के सत्य को पाना है। यह पहेली का पहला चरण है। उसका बाह्य रूप है। दूसरा, हम जो हैं, जो हमारा सच्चा व्यक्तित्व है, उसका हमें ज्ञान नहीं हैं। वह हमने अभी तक न देखा, न पाया। उसके विषय में हमें कोई सही धारणा नहीं है। संक्षेप में, जो हम हैं, उसका हमें पता नहीं, जो हम नहीं हैं उसे हम अपना आप समझ रहे हैं। कितनी भारी भूल, कितनी बड़ी भ्रांति, कितनी अचेतनता !

इस दृष्टिकोण से जब हम अपने आप को देखेंगे तो मन की चंचलता, इंद्रियों की भोगों के प्रति भूख, प्राणों की कामना रूपी प्यास, वैभव में वृद्धि करने की अहंकार की वृत्तियाँ हमारे स्वभाव की दूसरों के प्रति अंधी, विवेकहीन ईर्षा भरी प्रतिक्रियाएँ हमें छोड़ कर चली जायेंगी। हर समय जो

हमारी चेतना बिखरी रहती है, एकत्र हो जायेगी और हम जीवन को गंभीरतापूर्वक ग्रहण करेंगे।

"एक पहेली यह जग-जीवन, जिसकी कुंजी हैं भगवान"

—"सावित्री"

जिसने पाया इस कुंजी को, फिर न भटकता वह इंसान।

अनंत अमृत-सिंधु के अभीप्सु को उससे ऊपर उठना होता है, जिसे शास्त्रों में सांसारिक मानसिकता, मनोवृत्ति कहा है।

आत्मा को सम्मुख करके जीवन- मार्गों पर चलना होता है।

जग-विषयों को भूल कर आत्म-चिंतन में डूबना होता है।

कामनाओं की आहुति देनी होती है।

अहंकार से ऊपर उठना और आत्मा में स्थित होना होता है।

मान-अपमान की ओर से ध्यान हटा कर अंतस्थ देव के आदेशानुसार जीवन व्यतीत करना होता है।

जीवन-कला

इस संसार में जीवन जीने का एक ही उत्तम तरीका है। वह है अपनी आत्मा को आगे करके जीवन मार्गों पर चलना। उसी के प्रभाव में रहना, उसी के पथ-प्रदर्शन में, उसी के द्वारा चुने हुए लक्ष्य की ओर उत्साहपूर्वक बढ़ना। जो मन या अहंकार के द्वारा प्रेरित होकर चलते हैं, वे भटकते हैं। मोह, आसक्ति आदि के जाल में फँसते हैं। राग-द्वेषादि द्वन्द्वरूप गहरे अंधियारे गर्तों में गिरते हैं। हमारे अंदर, हमारी संपूर्ण सत्ता में, केवल हमारी आत्मा को ही -- अवश्य, अपने विकास में एक विशिष्ट स्थिति प्राप्त करने के पश्चात्, जब वह पर्दे के बाहर झांकने लगती है और जीवन में हस्तक्षेप करना प्रारंभ कर देती है -- इस जगत की रचना का, इसमें क्रियाशील शक्तियों का और सबसे ऊपर, इसके पीछे भागवत संकल्प का सही ज्ञान रहता है। किस स्थिति-विशेष में हमें क्या करना चाहिए और हमारे अंदर प्रभु की हमसे क्या मांग है, यह केवल हमारी आत्मा ही जानती है।

बुद्धि पर जब आत्मा का प्रकाश पड़ता है, उसमें लहरें ही नहीं, प्रतिभा का सिंधु उमड़ता है। उसकी क्षमताएँ अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती हैं।

स्वात्म की ओर

हे जीव, हे जीवात्मन् ! तू प्रभु का अंश है। अपने मूल रूप में ईश्वर है। अपने ईश्वरत्व के प्रति सचेतन बन। यहाँ जो कुछ भी है, जो हमें दिखता या नहीं दिखता, उस सब का आदि मूल ईश्वर है। यह सब, यह सारी सृष्टि उसी एक अनंत, दिव्य- पुरुष की अभिव्यक्ति है। अतः तू अपने सच्चे स्वरूप को पहचान। अपनी दिव्यता प्राप्त कर, अनंतता में स्थित हो। वहाँ तुझे वह चेतना प्राप्त होगी, जिसमें तू अपनी मुक्ति और बंधन इन दोनों धारणाओं से परे है। उस स्तर पर तू अपने आपको जीव, जगत और ईश्वर तीनों में एक साथ देखेगा। सृष्टि का अर्थात् जगत-रूप आत्मा की इस अभिव्यक्ति का रहस्य, इसके सारे भेद-प्रभेद तेरे अंदर होंगे। इनको अपने अंदर धारण करता हुआ भी तू इनसे परे सीमाहीन अनंत, केवल एक, अद्वितीय, परम पुरुष के रूप में देखेगा। उस स्तरं पर तेरा स्वरूप भिन्न है। तू यह सीमित व्यक्तित्व नहीं रहता। व्यक्ति और विश्व दोनों का अतिक्रमण कर जाता है। विश्वातीत पुरुष के रूप में अपने आपको अनुभव करता है। तेरी सत्ता, तेरी चेतना, तेरे अस्तित्व की कहीं सीमा नहीं होती। सब कुछ वर्णन और वाचा की पहुँच के परे, सीमाहीन अनंत होता है।

'तत्वमसि'

विवेक जगायें

अंधे होकर अहंकार के यंत्र न बनें। अपने हृदय-नेत्र खोलें। सचेतन रहें और वस्तुस्थिति का सही अवलोकन करना सीखें। जब कोई विचार-विशेष या भाव-विशेष उठे, कोई कामना, कोई प्रतिक्रिया हमें अधिकृत करे, उस समय क्षण भर ठहरें, स्थिति से थोड़ा पीछे हटें और एक तीक्ष्ण परीक्षण के द्वारा, स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करें कि ये सब चीजें हमारी सत्ता के किस भाग से उठी हैं, इनका उद्गम हमारी सत्ता में कहाँ है, हमें किस ओर प्रेरित कर रही हैं! इनकी गति ऊर्ध्वमुखी है या अधोमुखी। ये सब हमारे हृदय का पर्दा हटाने में सहायक हैं या बाधक। आत्म-सत्य के समीप ले जा रही हैं या उससे दूर कर रही हैं।

अहंकार की मांगों का विवेकहीनतापूर्वक समर्थन करने का, उनकी पूर्ति के लिए प्रयास करने का अर्थ है, अज्ञान-अंधकार की शक्तियों के प्रभाव में आ जाना, उन शक्तियों को समर्पित हो जाना। यह अपने आप में एक महान पतन है। कारण, इस स्थिति में आत्म-कल्याण की सब संभावनाएँ अनिश्चित काल तक के लिए स्थगित हो जाती हैं

कामनाओं की पूर्ति से नहीं कर्तव्य-पालन से आंतरिक संतुष्टि प्राप्त होती है। हमें चाहिये कि कामनाओं की पूर्ति में व्यस्त न हों अंतर्प्रेरणा का अनुसरण करें। वही कर्तव्य है।

बाँसुरी-भाव

पूर्ण रूप से भगवान का हो जाना, आत्म-विकास की एक अति उच्च स्थिति है और जब तक मानसिक चेतना में हमारा निवास है, यह असंभव है। श्रीअरविंद के अनुसार जब सारी सत्ता समर्पित हो जाती है, हमारे और अन्तस्थ देव के बीच का पर्दा हट जाता है, तब न केवल उनका प्रकाश हमारे अंगों को ज्योतिर्मय कर देता है, वरन् उनकी चेतना इन्हें अधिकृत कर लेती है। उनकी उपस्थिति इनमें निवास करती है और इनका संचालन करती है। चैत्य-भावापन्न व्यक्तित्व में प्रभु पूर्ण रूप से शासक और स्वामी होकर हर क्रिया को, जीवन की हर गतिविधि को अपने हाथों में ले लेते हैं। वे हमारे अस्तित्व के अस्तित्व हैं, उसका मूल कारण हैं। अगर हम चाहें अपने जीवन का भार उन्हें सौंप सकते हैं।

यह हमारी अन्तर्सत्ता की अभिलाषा है कि हम प्रभु को जीवन-स्वामी के रूप में चुनें, उन्हें समर्पित रहें। अपने हर अंग में, सत्ता के हर भाग में, उन्हें प्रतिष्ठित करें। अर्थात् प्रभु के साथ हमारा तादात्म्य सत्ता के हर स्तर पर, हर भाग में, हर रोम में सतत स्थायी बन जाये — मानों वह एक मंदिर है जिसमें प्रभु निवास करते हैं। हमें यह बोध रहना चाहिए कि मैं एक भागवत शिशु हूँ, प्रभु का अंश हूँ , प्रभु के लिए हूँ। प्रभु मेरी मूल सत्ता हैं। यह व्यक्तित्व मैंने उनको सौंपा है और अब इस पर एक मात्र उनका ही शासन है। मैं बाँसुरी की

भाँति उनके हाथ का यंत्र हूँ। वे जो चाहें मेरे द्वारा करें, करा लें। मुझे अपने अस्तित्व का भान केवल इसलिए और इतना मात्र रखना होता है कि मैं उनका हूँ, उनके लिए हूँ।



मन जब शांत एवं स्थिर हो जाता है, इंद्रियाँ विषयों में रस लेना बंद कर देती हैं, सारी सत्ता समर्पण के लिए पुकारती है, चेतना एकाग्र हो जाती है, हृदय प्रभु-प्रेम में व्याकुल रहता है, अंग-प्रत्यंग सत्यता की मांग करता है, तब उर्ध्व शक्ति, ज्योति, चेतना हमारे आधार में अवतरित होने लगती हैं।

जीवन का स्तर जितना अधिक ऊँचा होगा, समस्याएँ उतनी ही कम होंगी। जब जीवन प्रभु-संकल्प की, आध्यात्मिक चेतना की अभिव्यक्ति हो जाता है, तब केवल वही घटित होता है जो विश्व-मंगल में श्रेयष्कर हो।



विश्व-व्यवस्था

जीवन की लंबी राहों पर, हमारे साथ व्यवहार में जो आत्माएँ हमें मिलती हैं, जिनसे हमारा आदान-प्रदान, संबंध, नाते-रिश्ते होते हैं, जो सब बिलकुल सामान्य ढंग से संयोगवश जैसा घटित होता है, अथवा हमें घटित हुआ-सा प्रतीत होता है, वास्तव में ऐसा नहीं है, इतना सामान्य नहीं है। कारण, यहाँ इस संसार में, कुछ भी संयोगवश नहीं होता। इस सब के पीछे एक बहुत व्यापक योजना होती है, एक अर्थ छिपा होता है। यह सब एक दिव्य प्रयोजन की संसिद्धि की तैयारी में है। जो विधाता के द्वारा पहले से देखा, जाना तथा व्यवस्थित किया हुआ होता है, और उन्हें ही हमारे साथ मिलाया जाता है, जिनका मिलन, जिनके साथ व्यवहार हमारे वर्तमान आत्म-विकास के लिए आवश्यक होता है। अगर ऐसा न होता, हम अपने ढंग से बौद्धिक गणनाओं के अनुसार चुनाव करते तो हमारा विकास इतना पूर्ण, इतना द्रुत न होता, जितना हम अब देख रहे हैं। ये सब वे ही आत्माएँ हैं जिनको हमारे जीवन-काल में ही पृथ्वी पर भेजा गया है और जीवन-मार्गों पर कभी मिल कर तो कभी बिछुड़ कर, हमारे साथ चलाया गया है। भले ही हमारे अहंकार को इनका मिलना अथवा बिछुड़ना पसंद हो या नापसंद, सुखकर प्रतीत हो या दुखकर— एक ध्रुव-सत्य के साये में खड़े होकर हम कह सकते हैं— इस सृष्टि में हमारे अहंकार की प्रसन्नता के

लिए, उसकी संतुष्टि के लिए कुछ भी नहीं किया जाता। उसी प्रकार दूसरी ओर सब कुछ ही हमारी आत्मा को, उसके विकास की वर्तमान अवस्था को दृष्टि में रखते हुए किया जाता है, जिसके द्वारा कि उसका विकास यथासंभव तीव्र गति से, छोटे से छोटे मार्ग के द्वारा, कम से कम समय में, अधिक से अधिक पूर्णता के साथ संपन्न हो सके। क्योंकि हमारे अंदर यह आत्मा ही जीवन का सार है, आत्मभाव चिरंतन सत्य है, अहंभाव नहीं; वह केवल एक व्यावहारिक गौण तथ्य है, इसीलिए इस विश्व में विकासोन्मुखी सत्ता सदैव हमारी अंतरात्मा को, उसके विकास को ही दृष्टि में रखते हुए, हमारे चारों ओर की परिस्थिति को व्यवस्थित करती है, जिससे कि पृथ्वी पर अवतरित आत्माएँ अपना विकास निर्बाध गति से सुसंपन्न कर सकें। विश्व-कर्म में यही उसका उद्देश्य निहित है

हमारे चैत्य पुरुष में यह आस्था स्वाभाविक है कि परिस्थितियाँ हमेशा हमारे विकास की वर्तमान अवस्था के अनुरूप ही उत्पन्न की जाती हैं,-- एक विश्वव्यापी मंगलमयी भावना का साया उनके पीछे होता है-- जिनके द्वारा हम कम से कम समय में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सकें, अपने गंतव्य पर पहुँच सकें, आत्म-विकास को अधिक पूर्ण, अधिक विस्तृत बना सकें। चैत्य पुरुष जानता है, भगवान उसकी प्रार्थना अवश्य सुनते हैं और सहायता के लिए सर्वदा उसके पीछे विद्यमान हैं।

अन्तर्निहित सत्य

हम जो पुरुषार्थ करते हैं, जो भी त्याग-तपस्या, बलिदान करते हैं, वह इसलिए कि हम एक सत्य में उठना, उसमें निवास करना चाहते हैं। हम जिन वस्तुओं का स्पर्श करते हैं, जिनके साथ व्यवहार करते हैं, वह उन्हें भोगने के लिए नहीं वरन् इसलिए कि उनके द्वारा हम, उनमें निहित सत्य के साथ संबंध स्थापित कर सकें। वस्तु मात्र का अन्तर्निहित सत्य भगवान हैं। अतः भगवान को पाना हमारे जीवन का प्रथम लक्ष्य हो जाता है, होना भी चाहिए।

हमारी व्यक्तिगत सत्ता का मूल भगवान हैं। हमारी आत्माएँ उन्हीं के अंश हैं। इस भौतिक तन-मन के पीछे, इसके परे दूर हृदय की गहराई में हमारी आत्मा का निवास है, यही हमारा सच्चा स्वरूप है। हमारी आत्मा सृष्टि में अवतरित होती है, जन्म-जन्मान्तरों में घूम कर अनुभव एकत्र करती है और अंत में इस अनुभव पर पहुँचती है कि यह सृष्टि भगवान की है, उनकी रचना है, ये सब आकार उन्होंने ही लिये हैं और वे ही इन आकारों के भीतर, इनके पीछे स्थित हैं, और वहीं से इनकी व्यवस्था करते हैं। जैसे व्यक्ति-सत्ता का सत्य व्यक्ति की आत्मा है, जो भगवान का अंश है, उनका अपना स्वरूप है, वैसे ही जगत-सत्ता का सत्य, इसे धारण करनेवाला, इसमें निवास करनेवाला विराट पुरुष, विश्वात्मा उनका अपना स्वरूप है। वे ही विश्व में स्थित सब शक्तियों

को चला रहे हैं। अतः अगर हम अपने और इन वस्तुओं के आंतरिक सत्य की ओर न मुड़ें तो केवल आकारों में, आत्मा के इन यंत्रों में, उलझे रहेंगे। इनमें स्थित सत्य से इनकी आत्मा से हमारा कोई संबंध नहीं हो सकेगा। हम अंधकार में, आत्म-अज्ञान में, खड़े रह जायेंगे, हमारा निवास मिथ्या में रहेगा। जबकि हमारा संबंध, हमारा व्यवहार सत्य के साथ, हमारा निवास सत्य में होना चाहिए। अतः हमें वस्तुओं के बाह्य रूपों के पीछे जा कर उनके भीतर प्रवेश करना सीखना है, उनमें छिपे सत्य को पाना है, यही हमारी आत्मा की हम से मांग है। विश्वव्यापी भागवत संकल्प हमें इसी ओर प्रेरित कर रहा है।

संसार में सबसे महान एवं महत्वपूर्ण कर्म है— अपने आपको जानना। अपने आपको जानने से ही जगत जाना जाता है, भगवान जाने जाते हैं। क्या है यह अपने आपको जानना, क्या अर्थ, क्या भाव है इसका ?

अपने आपको जानने का अर्थ है मूल तत्व को जानना। मूल तत्व एक है। अतः अपने आपको जानने का अर्थ है परम एकत्व का ज्ञान। हम किसी भी चीज का मूल खोजें, हम देखेंगे कि परम तत्व वहाँ विद्यमान है। हम उसी पर पहुँचेंगे। उस मूल को 'सर्वम्' भी कहा है। जिससे बाहर, परे अन्य कुछ नहीं। जो उस सब का मूल है, जो था या है या होगा अथवा जिसके अभिव्यक्त होने की संभावना है।

वाणी

बोलना आवश्यक है। लेकिन उतना बोलो जितना अनिवार्य हो। उससे न कम, न अधिक। जब तक हम आत्म-विकास में एक विशेष स्थिति प्राप्त नहीं कर लेते, हमें कुछ नियम लेकर ही जीवन जीना चाहिए। बोलने में शक्ति और चेतना बाहर जाती है, हमारी अंतर्मुखता धीरे-धीरे कम होती है। हम अधिकाधिक बाह्य चेतना में प्रवेश करते जाते हैं। अपने आंतरिक केंद्र से दूर और दूसरों के वातावरण में अधिक उतरते हैं। हमारी चेतना अपने स्तर से गिर जाती है। जितना हम बातचीत में अधिक डूबते हैं, उतना ही अपनी आंतरिकता से, अंतश्चेतना से, आत्म-सानिध्य से बाहर आते हैं। पुनः उसी स्थिति में लौटने के लिए हमें काफी समय देना, काफी परिश्रम करना पड़ता है। सचेतन साधक अपनी संपूर्ण सत्ता के समर्पण में अपनी वाणी भी अर्थात् बोलने की क्रिया, उसके विषय का चुनाव, दूसरे व्यक्ति का चुनाव, समूह का चुनाव, कहाँ बोलना है और कहाँ नहीं, क्या बोलना है क्या नहीं, यह सब प्रभु को सौंप देते हैं और स्वयं यंत्रवत पूर्ण सचेतनता के साथ अंदर-बाहर सजग हो कर, अपना कर्तव्य पूरा करते हैं।

निर्भ्रांत मार्ग वही है जो हृदयेश्वर के द्वारा नियुक्त किया गया है। अन्यं सब भ्रांति है।

कुछ और सीखें

इस विश्व में एक शाश्वत सत्ता कार्य कर रही है। वही इन असंख्य, दृश्यमान वस्तुओं में व्याप्त है। प्रकृति के असंख्य रूप और कर्म उसी से उत्पन्न होते हैं। वही हम सब के हृदय में चेतना और शक्ति के रूप में स्थित है। हमारे सब कर्मों के पीछे, उसी का संकल्प विद्यमान है। परन्तु हम इस सत्ता के प्रति सचेतन नहीं हैं। इसे न देख रहे हैं और न अनुभव कर रहे हैं। इसका प्रथम कारण यह भी हो सकता है कि हमने अब तक इस ओर ध्यान न दिया हो, इसे देखने और खोजने का प्रयास न किया हो। अगर किया भी हो तो उसमें उतनी तीव्रता नहीं थी, जिसमें हम इससे दूर रह ही नहीं सकते, बीच में कुछ ठहर ही नहीं सकता, जीवन जीना कठिन हो जाये, श्वास मानों रुद्ध हो जाये। दूसरे, हमारी अभीप्सा उतनी ज्वलंत नहीं थी जिसमें बाकी सब कुछ स्वाहा हो जाये और केवल वही तत्व रहे जो उस लौ का रूप धारण करे जो निरंतर ऊपर उठने वाली होती है। तीसरे, हमारा संकल्प भी उतना बलवान नहीं था, जो बंद द्वारों को खोल दे और हमें भीतर स्थित कर दे। हमारी पुकार में आवश्यक तड़पन नहीं थी, शायद हमारे पुरुषार्थ में सत्यता का अभाव था।

कुछ भी हो, अगर द्वार बंद है, अगर हमारी संपूर्ण सत्ता आत्म-आलोक से आलोकित नहीं हैं तो हमें समझ लेना

चाहिए कि जीवन जीने का हमारा ढंग, जीवन के प्रति हमारा भाव सही नहीं है। हमें और सचेतन बनना है, विचार, भाव, कर्म में और सत्यता लानी है, और अधिक समर्पित होकर जीवन यापन करना सीखना है। सचेतनता एकाग्रता से आती है। सचेतनता के द्वारा प्रकृति से पृथक्करण संभव होता है। हम अपनी चेतना को मन तथा शरीर से पृथक कर सकते हैं और इनमें उठनेवाली इच्छाओं को स्पष्ट देख सकते हैं। इनकी क्रिया में हस्तक्षेप कर सकते हैं, इन्हें नियंत्रित कर सकते हैं। इनकी दिशा को मोड़ सकते हैं। आत्म-प्रभाव की ओर उद्घाटित कर सकते हैं। इनके स्वभाव में परिवर्तन ला सकते हैं। इनमें समर्पित होने के लिए अभीप्सा जगा सकते हैं।

हमें चाहिए कि हम अपनी वर्तमान स्थिति से, प्रगति से, तथा उपलब्धियों से, पूर्णतः संतुष्ट न हों। इन्हें ही सब कुछ, जीवन की संपूर्ण देन न समझें, चरम प्राप्ति न मान बैठें।

हर मानव प्राणी के हृदय में संभावनाओं की एक अगम निधि निहित है। हम जितना चाहें जीवन में उसे अभिव्यक्त कर सकते हैं। जितना अधिक उसके भीतर प्रवेश करेंगे, जितना अधिक उसमें उतरेंगे, उतने ही अधिक दिव्य तथा तेजोमय पदार्थ हमें उपलब्ध होंगे।

तंविद्धि

यह सृष्टि एक अचिंत्य, अनाम, अनंत पुरुष की रहस्यमयी रचना है। एक अनादि, अजर-अमर, सनातन आत्म-तत्व की अपने अंदर आत्म-अभिव्यक्ति है। जड़ पदार्थ अर्थात् पार्थिव तत्व, जीवन और चेतना का संघटन जो हम अपने चारों ओर नाना रूपों में देख रहे हैं, सब का आदि मूल यही तत्व है। जड़ हो या चेतन, सब इसी एक चेतन तत्व के जीवन से जीवित हैं। इसी एक तत्व की शक्ति से गतिमान हैं। इसी की चेतना से सचेतन हैं, सजग हैं। जैसे शीतलता की शक्ति तरल जल पदार्थ को ठोस रूप प्रदान कर देती है, उसी प्रकार इस तत्व की शक्ति के द्वारा ये सब सृष्टियाँ, ये भूत-ग्राम, सूक्ष्म होते हुए भी स्थूल रूप में परिवर्तित हुए हैं। जिस प्रकार जल से निर्मित बर्फ के अंदर जल सर्वत्र विराजमान रहता है, उसी प्रकार आत्म-तत्व से उत्पन्न इस जगत की हर वस्तु में वह तत्व सर्वत्र ओत-प्रोत है। हमारे प्राचीनतम शास्त्रों से लेकर आधुनिक दर्शन तक इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। सभी इस अनंत सृष्टि का उपादान कारण और निमित्त कारण उसी एक परमात्मा को, परम आत्म-तत्व को मानते हैं। उनकी गांभीर्यभरी घोषणा है-- 'इस सृष्टि का आधार, इसका उद्‌गम, इसका गंतव्य, वही एक अनादि अनंत आत्मा है, वही एक परंमार्थ तत्व है। उसी से सब आया है, उसी में सब चल रहा है, उसी की ओर जा रहा है।'

बाह्य कोलाहल से दूर, अंतर-नीरवता के साये में शांत चित्त होकर जब हम चाहें आत्मा की इस दिव्य वाणी को, जो शास्त्रों से उद्‌भूत हुई है, सुन सकते हैं।

'तब हम इस तथ्य को क्यों स्वीकार नहीं करते, क्यों हम अपने आपको दूसरों से पृथक मानते हैं, हमें ऐसा क्यों प्रतीत होता है, कहाँ है इस भ्रांति का मूल ?'

यही आत्म-अज्ञान है। आत्म-अज्ञान की खाई को पार करने के पश्चात् हम दूसरे हो जाते हैं। सब कुछ भिन्न देखते हैं। संपूर्ण सृष्टि परम आत्मा के एकत्व में डूबी दिखाई देती है, जैसे सिंधु में मछलियाँ। वही सत्य है, जगत उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। भले ही अभिव्यक्ति का भी अपना सत्य है। लेकिन स्तर-भेद के कारण मूल्यांकन में परिवर्तन आ जाता है।

"तदेव ब्रह्म तंविद्धि, ने दं यदिदमुपासते।"

आत्मा के आनंद की मधुरता इतनी तीव्र है कि उसके साथ इस लोक की बात तो क्या, किसी भी लोक की, किसी भी वस्तु की तुलना नहीं की जा सकती।

चातक सम

हमारे अंदर हमारी आत्मा एक सूक्ष्म वस्तु है। यह हमारी सत्ता का आतंरिक सत्य है। इसीलिए आत्मा की प्राप्ति बाह्य वस्तुओं पर, बाह्य घटनाओं पर, वातावरण पर निर्भर नहीं करती। विद्या, बुद्धि, धन, पराक्रम आदि भी इसकी प्राप्ति की अनिवार्य शर्तें नहीं हैं। यहाँ तक कि बाह्य रूप से अगर हमें कोई गुरु प्राप्त न हो तो भी हम इस आत्मा को उपलब्ध कर सकते हैं। अवश्य, अगर हमें पथ-प्रदर्शक प्राप्त है तो इससे मार्ग सुलभ हो जाता है, हम भटकन से बच जाते हैं। लेकिन यहाँ जो बात ध्यान देने की है वह है, अगर हम तैयार नहीं अर्थात् अगर हमारा आधार तैयार नहीं, तो गुरु चाहे कितना भी महान हो, हम आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकते। प्रथम तो गुरु हमें आत्म-अनुभूति प्रदान नहीं करेंगे, कारण वे जानते हैं कि आत्मा अग्नि-स्वरूप है और अगर हमारा आधार सुदृढ़ नहीं है, हमारी स्थिति परिपक्व नहीं है तो परिणाम भयंकर होगा। द्वितीय, अगर वे अनुभूति प्रदान करेंगे भी तो केवल आंशिक, क्षणिक, हमारी चेतना में स्पर्श मात्र। आत्मा की अनंतता, उसकी शाश्वतता, उसकी शक्ति नहीं।

लेकिन, अगर हमारे अंदर आत्मा को पाने की उत्कट इच्छा है, हमारी अभीप्सा की तीव्रता प्रचंड अग्नि के समान है, अगर आत्मा की प्राप्ति हमारे जीवन का सबसे महान और महत्वपूर्ण तथ्य बन गया है, अगर हमारी स्थिति ऐसी है कि

हम उसके बिना रह ही नहीं सकते। जब हम इसके चिंतन में पूर्णतः डूबे रहते हैं, बाहर नहीं आते, इसकी प्राप्ति की धुन, हमारे मन, हृदय, इंद्रियों पर ऐसी छा जाये कि हमें इसे छोड़ कर अन्य कुछ भाये ही नहीं, कहीं कोई रस ही न रहे। वस्तुओं का मूल्य मानों हमारी चेतना से झड़ गया। रामकृष्ण की भाँति जीवन-गाड़ी मानों अटक गई। ऐसी स्थिति में हमारा मन बाह्य सत्ता से पीछे हट जाता है, अंतर्मुखता का भाव अपना लेता है। अभीप्सा की इस प्रचंड ज्वाला में आत्मा के साथ हमारे तादात्म्य को कोई वस्तु नहीं रोक सकती, हमारे औरं उसके बीच नहीं ठहर सकती। हमें तादात्म्य लाभ होता है। हम अपने सत्य-स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं।

हमारी व्यक्ति-सत्ता का और जगत-सत्ता का मूलभूत सत्य परात्पर परम पुरुष है। उसे उपलब्ध कर हम पूर्णता प्राप्त करते हैं। आत्मा का स्वातंत्र्य हमारा स्वभाव, आत्मा का आनंदमय चिर-शुद्ध स्वरूप, हमारा अपना स्वरूप होता है।

भगवान के लिए अनन्य प्रेम, उन्हें मिलन की प्यास, उनका होकर जीने का अदम्य संकल्प, हमारी आत्मा के बीच पड़े व्यवधान को चीर-फाड़ कर दूर करने में सफल होता है।

असंतुष्टि

जिसकी उन्नति जहाँ रुकी है वही उसकी समस्या है। जिस कारण रुकी है उस कारण को खोजना है। हम देखेंगे कि रुकावट का कारण हमारे स्वभाव में कुछ कामनाएँ, स्वार्थ-भावनाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ हैं। हो सकता है हम आलसी हों और कोई कष्ट उठाना न चाहते हों, हमें हमारी अज्ञानमय अवस्था, सीमाएँ, स्वभाव की दासताएँ जरा भी न कचोटती हों और हम इस अपूर्ण जीवन को ही मनुष्य का संपूर्ण जीवन अथवा ऊँचे से ऊँचा स्तर समझ बैठे हों, अथवा इस स्वर्णिम अवसर को, आत्मा के अवतरण को, जो कि हमें मानव-जन्म के रूप में प्राप्त हुआ है, ऐसे ही बिना इसका मूल्य समझे, व्यर्थ का प्रपंच कह कर, पृथ्वी पर निरर्थक बना रहे हों।

अतः प्रथम अवस्था में वर्तमान अज्ञानमय जीवन के प्रति असंतुष्टि का होना, उसके प्रति असहनशील हो उठना, आत्म-जागृति का उदय है। एक युक्तियुक्त स्थिति है। इसी में उच्च जीवन के प्रति अभीप्सा का बीज निहित है। हृदय में अभीप्सा अनिवार्य है। अभीप्सा सब उपलब्धियों की कुंजी है। अभीप्सा के बिना उत्थान असंभव है।

अपनी सत्ता के सर्वोच्च स्तर की प्राप्ति, उसमें निवास की अभीप्सा हमारे अंदर सदा बढ़ती रहनी चाहिए। यही मानव-जीवन की सार्थकता है।

अनुभव से विकास

हम पृथ्वी पर बार-बार इसलिए जन्म ग्रहण करते हैं कि हम अपनी आत्मा को, सत्ता के आंतरिक सत्य को उपलब्ध कर सकें। हर जन्म में हमें नये अनुभव प्राप्त होते हैं। उससे हमारी चेतना का विकास होता है। वस्तुओं के बाह्य रूपों के पीछे उनकी आंतरिक सत्ता का ज्ञान होता है। हम आंतरिक और बाह्य जगत में, व्यक्ति और उसकी आत्मा में अंतर करने लगते हैं। आत्मा के जन्म ग्रहण करने का दिव्य प्रयोजन हमें ज्ञात होता है। आत्म-विकास को हम अपने लक्ष्य के रूप में चुनते हैं और अंत के जन्मों में अपनी सत्ता और जगत-सत्ता के सत्य को उपलब्ध कर जीवन को उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रदान करते हैं। वह जीवन आत्म-चेतना में, आत्मा के द्वारा, मुक्त जीवन होता है।

अपने प्रारंभिक जन्मों में हम अचेतन होते हैं, हमारे यंत्र अर्थात् मन-शरीर आदि अपनी-अपनी प्रकृति के साथ बहिर्मुखी होते हैं, सुख-भोग ही इनका लक्ष्य होता है। धीरे-धीरे बहुत जन्मों के अनुभवों के पश्चात् इनमें अंतर्मुखता आती है, इनकी वृत्तियाँ शुद्ध हो जाती हैं, प्रकृति आत्म-सत्य की ओर उद्घाटित हो जाती है और बाह्य सुखों में न भटक कर अंतस्थ पुरुष की शरण ग्रहण करती है। इसी अभीप्सा को हृदय में ले कर मानव-आत्मा सृष्टि में अवतरित होती है।

तीन शर्तें

समस्त आध्यात्मिक उपलब्धियाँ, जीवन में सफलताएँ, सत्ता का आरोहण, उच्च चेतनाओं का अवतरण, भागवत शक्तियों की सहायता, जीवन और सत्ता में परिपूर्णता, यह सब उसी स्थिति में संभव है जब हम निम्नलिखित तीन शर्तें पूरी करें, वे हमारा स्वभाव बन जायें।

अभीप्सा - अदम्य, सतत, सर्वोपरि, सत्ता के हर अंग में।

इंद्रिय संयम - पूर्ण, स्वाभाविक, बिना बनावट या दबाव के।

उद्घाटन - जो सर्वांगिण भक्ति से प्राप्त होता है। ऐसी सचेतन अवस्था जिसमें सत्ता का अंग-प्रत्यंग आत्म-सत्य के प्रति समर्पित हो। जहाँ अहंकार का नाम नहीं, निष्क्रियता के लिए स्थान नहीं, पुरुषार्थ एवं तपस्या के लिए उमंग, हर्ष से भरा उत्साह हो।

एक बात जो कभी नहीं भूलनी है, वह है — सब कुछ सत्यता के शासन में ही सफल होता है। हमें अंदर, बाहर, अपने कर्मों में, विचारों में, व्यवहार में सर्वत्र, हर स्तर पर सच्चा रहना है।

आत्मा की शक्ति का निवास शुद्ध एवं समर्पित हृदय में ही संभव है।

हम अभ्यस्त हैं

हम अपने आपको शरीर मान कर जीवन यापन कर रहे हैं, जिसमें एक मन रूपी तत्व है, जिसके द्वारा हम सोचते-विचारते हैं। मन की कुछ इच्छाएँ होती हैं, इसी प्रकार शरीर की भी। हमारा अहंकार जो हमारी वर्तमान अज्ञानमय स्थिति में जीवन-स्वामी है, वास्तव में ये इच्छाएँ उसी की होती हैं। उसी का संकल्प इनमें चालक-प्रेरक होता है। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अहंकार ही शरीर और मन, इन दोनों को यंत्र-रूप में उपयोग करता है। यही उसका ध्येय है। इसमें ही उसको सुख मिलता है। इस प्रकार एक जीवन के उपरांत दूसरा जीवन और दूसरे के उपरांत तीसरा, यही क्रम जन्म-जन्मान्तरों से चला आ रहा है। जिन्होंने थोड़ा भी मनुष्य को, उसके अंदर छिपी संभावनाओं को, उसकी सत्ता की वास्तविकता को समझा, देखा और गहनता के साथ उसका अध्ययन किया, उन सब का कहना है कि यह हमारा बाह्य जीवन है। मनुष्य के जीवन का, उसकी सत्ता का, केवल एक आंशिक भाग है। इस जीवन में आंतरिकता की, अंतर्पुरुषों की कुछ भी छाप नहीं, कोई झांकी नहीं, कोई प्रभाव नहीं। शरीर को अपना आप समझना और इसकी इच्छाओं को पूरा करने का प्रयास करना यही, इतने मात्र ही हम नहीं है। यही हमारे व्यक्तित्व की सीमा नहीं है। केवल संतही व्यक्तित्व को सब कुछ समझने का, उसी में संतुष्ट

रहने का, जीवन के प्रति जो हमारा दृष्टिकोण है, श्रीअरविंद और श्रीमाताजी की शिक्षा के अनुसार यह केवल एक अभ्यास है, जो हर जन्म में, इस स्तर पर निवास करने से हमें पड़ गया है। अगर हम चाहें, इस अभ्यास को त्याग सकते हैं, इस स्तर से ऊपर उठ सकते हैं। सतही जीवन के स्थान पर गहराई से युक्त जीवन यापन कर सकते हैं। जिसमें हमें भीतर से पथ-प्रदर्शन और प्रेरणा प्राप्त हो सकते हैं और फलस्वरूप मन, इंद्रियों और अहंकार की दासता से भरे जीवन के स्थान पर हम एक आंतरिक सत्य से प्रवाहित, आत्मिक सुख और ज्योति से भरपूर, आत्मा से प्रेरित-चालित जीवन जी सकते हैं। वह जीवन एक उच्च्च जीवन होगा। अपने पूर्ण विकास के लिए हमारी आत्मा हमसे इसी प्रकार के जीवन की मांग करती है।

इंद्रिय जीवन मनुष्य के जीवन का सही स्वरूप नहीं है। कामनाओं से भरे जीवन में आत्म-उपलब्धि का संकल्प नहीं उठता।

महत्वाकांक्षाएँ ईश्वर-प्राप्ति के लिए हमारी अभीप्सा की अग्नि पर राख का काम करती हैं, उसे दबा देती हैं। अहंकार के रहते आत्म-सत्य में निवास एक स्वप्न है।

अंतर्मुखता

अंतर्मुखता अर्थात् आंतरिक स्तर पर निवास करना। वस्तुओं और प्राणियों के अंतर्सत्य की ओर मुड़ना, उसकी ओर खुले रहना, उसके प्रति सचेतन रहना और उसी से व्यवहार करना। अंतर्मुखता का यह भाव प्रारंभ में हमारे अंदर एक प्रवृत्ति का रूप ग्रहण करता है। एक आस्था हमारे अंदर पैठ जाती है। हमें पूरी तरह विश्वास हो जाता है कि व्यक्ति और वस्तुओं का सत्य उनके भीतर है, बाहर नहीं, सत्ता की ऊपरी सतह पर नहीं। वह नहीं जो हमें हमारी भौतिक दृष्टि से दिखायी दे रहा है।

आंतरिक स्तर पर निवास करने से, हमारा अब तक का दृष्टिकोण, जगत और जीवन को जैसा हम अब तक देखते-समझते थे, पूर्णतः परिवर्तित हो जाता है। हमारे व्यवहार करने का तरीका गहनता से भर जाता है, उसमें आंतरिकता की, आत्मीयता की झलक आ जाती है। हम आकारों पर ही नहीं ठहरते, उनके पीछे निराकार सत्ता से व्यवहार करते हैं। वस्तुओं के बाह्य मूल्य को ही ध्यान में रख कर उनका प्रयोग नहीं करते वरन् उसके साथ-साथ और उससे भी अधिक, उनके आंतरिक सत्य को, उनकी वास्तविक सत्ता को, उसकी अभिव्यक्ति को, ध्यान में रखकर करते हैं। अंतर्मुखता में हम एक उपस्थिति से घिरे रहते हैं जो दिव्य है।

गंभीर बनें

वृंदावन छूटा तो श्री कृष्ण ने भी वंशी बजाना छोड़ दिया। उन्हें संसार में जो कार्य करना था, उसके प्रति हठात् गंभीर हो उठे। उसकी तैयारी में दिन बिताने लगे।

समय आ गया है, हम भी जीवन के प्रति गंभीर बनें। शास्त्रों की शिक्षा के अनुसार जीवन-लक्ष्य निर्धारित करें। अपनी आत्मा का अनुसंधान करें और उसके आदेश का पालन कर्तव्य के रूप में चुनें। अपने आपको संयत करें, लक्ष्य के प्रति पूर्णतः सचेतन हो जायें, चित्त को एकाग्र रखें और उच्च चेतनाओं की ओर उद्घाटित रहें।
हमारे अंदर अभी चांचल्य है। जीवन को हमने गंभीरतापूर्वक नहीं अपनाया, लक्ष्य के विषय में हमारी धारणा सुनिश्चित नहीं है। क्या करना चाहिये, क्या नहीं, इसका विवेक नहीं जगा है। हमारे हृदय में आत्मा के ऊपर पर्दा है। इसकी हमें चिंता होनी चाहिए। यह पर्दा अहंकार और कामनाओं से निर्मित है। अगर अहंकार को समर्पित न किया, कामनाओं का त्याग न किया, पर्दा दिन-दिन घना होता जायेगा। हम आत्मा से दूर होते जायेंगे। जिसका अर्थ है चेतना का पतन और अहंकार के द्वारा निश्चित किये गये मार्गों पर भटकन। कारण, जिस जीवन पर अहंकार की छाया है, वासना का प्रभाव है, वह जीवन निश्चित रूप से अधोगति को प्राप्त होता है। वहाँ न आत्म-विकास है, न प्रगति।

सूर्यास्त

जब हम अपनी सत्ता के निम्न स्तर पर उतरते हैं, उसमें व्यस्त रहने लगते हैं, उसके व्यापारों में रस लेते हैं अर्थात् इंद्रिय भोगों में ग्रस्त होते हैं तो हमारी आत्मा के ऊपर पर्दा घना हो जाता है, वह विश्व-प्रकृति की रजोगुण तथा तमोगुण रूपी शक्तियों के द्वारा अज्ञान में डुबा दी जाती हैं। इस प्रकार अज्ञान में डूबना, भोगों में ग्रस्त होना, पाशविक वृत्तियों में निमग्न रहना, शुद्ध मानवीय स्तर से हमारा पतन कहलाता है, जिसका अर्थ है, बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक अत्थान की संभावनाओं से वंचित हो जाना।

पूर्ण रूप से इंद्रियों के अधीन होने का अर्थ है आध्यात्मिक स्तर पर अंधा हो जाना। विवेकशून्यता में खो जाना। अपनी सत्ता के इस निम्नतम भाग में निवास करने से मनुष्य के सौभाग्य का, उसके आत्म-मंगल का सुनहला सूर्य अस्त हो जाता है। इसे ही शास्त्रों में कहा है "the soul is lost in maya."



निम्न प्रकृति की हर क्रिया हमें अपने आत्म-केन्द्र से, जहाँ हमारा सच्चा व्यक्तित्व निवास करता है, दूर ले जाती है। इस दूरी को शास्त्रों में 'महतीविनष्टि' कहा है।

आत्म-विश्लेषण

मैं शरीर हूँ, जिसमें इंद्रियाँ हैं। इंद्रियों की भूख, उनकी मांगें मैं अपनी अनुभव करता हूँ। मैं प्राण हूँ और उसकी हर कामना मेरी है, जिसकी अप्राप्ति में, अतृप्ति में मैं मृत्यु जैसा कष्ट पाता हूँ। मैं मन हूँ और उसकी महत्वाकांक्षाएँ, उसके विचार और मनोरथ मेरे अपने होते हैं, मेरे जीवन के अंग हैं। मैं अहंकार हूँ और उसके हर निर्णय को, हर चुनाव को मैं अपना समझता हूँ।

जब तक हम अपनी जीवन-धारा को अंतर्मुख नहीं करते, अपनी दृष्टि को भीतर की ओर नहीं मोड़ते, वस्तुओं के बाह्य स्वरूप और आंतरिक सत्य में भेद नहीं कर पाते, तब तक कभी भी अपने आपको मन, प्राण, शरीर और अहंकार से पृथक करने में सफल नहीं हो सकते और इस पृथकता के अनुभव के बिना हम अपनी सत्ता के सत्य को, अपने सत्य स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकते। जिन्होंने एक ओर पृथक्करण का यह अनुभव प्राप्त किया है और दूसरी ओर आत्मा में जिनकी स्थिति स्थायी है, वे मुक्त हैं। वे ही सच्चे अर्थ में सुखी हैं। वे नहीं जिनका जीवन वैभवपूर्ण है अथवा जिन्होंने समाज में एक ऊँचा पद प्राप्त कर लिया।

हमारे व्यक्तित्व के दो स्तर हैं — आंतर और बाह्य। बाह्य व्यक्तित्व के बढ़ने से यह आवश्यक नहीं कि आंतरिक व्यक्तित्व भी बढ़े। हाँ, आंतरिक व्यक्तित्व की वृद्धि से, उसके

विकास से, बाह्य व्यक्तित्व अवश्य लाभान्वित होता है, उसमें उत्थान आता है, दिव्यता झलकती है; शांति, सत्य, प्रकाश और सामंजस्य छाये रहते हैं।

मनुष्य जानते नहीं, उनके लिए कल्पना करना भी कठिन है कि उनके इस वर्तमान, बाह्य, सीमित व्यक्तित्व के पीछे एक विशाल दिव्य उपस्थिति भी है और यह उनकी अपनी ही सत्ता है। उसके साथ एक हो कर, उससे संबंध स्थापित करके, हम असीम हो जाते हैं। ज्योति, ज्ञान और शक्ति आदि के सिंधु, यह संपूर्ण सृष्टि या इससे परे जो अस्तित्व है, सब हमारी आत्म-सत्ता का अंग, उसके अंतर्गत होता है।

आत्मा की विशालता में ही सच्चा जीवन है। उसी में सच्चा सुख है। सीमा बंधन-रूप है। असीमता मुक्ति है।

वह दिन, उस दिन का वह क्षण, स्वर्णिम होगा-- जब मनुष्य मन-सीमा का, अपनी व्यक्तिगत सीमित सत्ता का अतिक्रमण कर आत्मा की विशालता में स्थित होगा, अपने चारों ओर जगत के ऊपर दृष्टिपात करेगा और आत्मा की दृष्टि के द्वारा प्रदान किया हुआ जगत का नया रूप देख कर उसका आह्लाद सिंधुओं में नहीं समायेगा। उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रहेगी। वह चकित हो उठेगा।

स्वर्णिम क्षण

हे प्रभु, जीवन में कुछ ऐसे क्षण भी आते हैं, जब हम अपने आपको तेरी उपस्थिति में पाते हैं। तब तू मेरे अपने अंदर और दूसरों के अंदर प्रत्यक्ष अनुभव होता है। तब ऐसा लगता है मानों तू चहुँ ओर भरा है और सब ओर से मुझे देख रहा है। तेरी उपस्थिति ठोस होती है। तेरी प्रतीति जीवंत, जाग्रत। कितने सुखद होते हैं वे क्षण, कितने मधुर ! तब कोई वस्तु असंभव नजर नहीं आती, कहीं कोई समस्या नहीं होती। सारी सत्ता शांति एवं सामंजस्य के स्पंदनों से ओत-प्रोत होती है। उस समय हम जो भी प्रार्थना करें, पूर्ण होती है, कारण उस समय, सब तेरी प्रेरणा से होता है। तब कर्ता मैं नहीं होता। इस सत्ता में, हमारी सत्ता में केवल तू ही निवास करता है, और व्यक्तिगत संकल्प का स्थान तेरा दिव्य संकल्प ले लेता है। उन क्षणों में सब कुछ और सर्वत्र सत्यमय, आनन्दमय, मंगलमय होता है। हे प्रभो ! हे दयानिधे ! तेरी कृपा में भीगा, मैं तेरे चरणों में बैठा हूँ। मेरा हृदय उनकी ओर जा रहा है जो तृष्णा की ज्वाला में झुलसे जा रहे हैं। ऐसी कृपा कर कि सभी इस आनंदमय स्थिति में श्वास लें, जो तेरी शरण ग्रहण करने से प्राप्त होती है।

भागवत यंत्र

अगर तुम अपने आपको भागवत यंत्र समझते हो, या बनना चाहते हो, तो अपने अंदर से क्रोध और अहंकार को निकाल दो और इसके स्थान पर धैर्य और सहनशीलता धारण करो। जगत से कोई आशा मत करो। सुख की कामना, भोगों में रस, तुम्हारा पतन है। मत भूलो ! तुम देने आये हो, अतः लेने की चाह कदापि न करना।

श्रम तुम्हारा कर्तव्य है, बलिदान पारितोषिक। भागवत कर्म के लिए तुम्हें चुना गया, जो तुम्हारा सौभाग्य है। विश्वास करो, तुम ठीक समय पर, ठीक घटना में, ठीक स्थल पर हो। यह एक महान, शुभ, मंगलमय अवसर है। इस अवसर की देन सत्य की विजय होगी। अतः किसी प्रकार की शिकायत, हिचकिचाहट, मन-प्राणों में परेशानी, हृदय में घबराहट, भय, बुद्धि में संदेह लाना भयंकर भूल होगी। जीवन में प्रभु-सेवा, उनकी प्रसन्नता ही तुम्हारा ध्येय है। नति-स्थिति, जीवन-समर्पण, गन्तव्य-प्रभु इच्छा, पथ- जो वे निर्धारित करें।

"अत्यंत महान मनुज भू पर, रहता सदा अकेला,
पूजित है जग में फिर भी, एकांतिक विचरण करता;
संबंधों का निर्माण व्यर्थ श्रम होता सब उसका,
आंतर बल केवल भूतल पर साथी होता उसका।"

"सावित्री" —. श्रीअरविंद

सफलता

मानव-जीवन की सफलता आत्म-साक्षात्कार में है। आत्मा को पाना, उसमें निवास करना, उसके संकल्प के प्रति सचेतन होना, हम सब का प्रथम कर्तव्य है। यही जीवन और जन्म को सच्ची सार्थकता प्रदान करता है।

आत्मा को प्राप्त करने के पश्चात् ही हम यह समझने में समर्थ होते हैं कि "मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, यह जगत क्या है, कहाँ से आया है, इसकी रचना करनेवाली शक्ति-चेतना कौन है और उसका स्वरूप क्या है ?"

आत्मा ही हमारी अपनी सत्ता का और जगत-सत्ता का मूलभूत सत्य है। जिस प्रक्रिया के द्वारा हम इस आत्मा को उपलब्ध करते हैं, उसे शास्त्रों में योग कहा है। जीवन में आंतर और बाह्य प्रगति करते हुए, आत्म-विकास के एक विशिष्ट स्तर पर पहुँचने के पश्चात् यह हमारी आवश्यकता हो जाती है कि हम अपनी व्यक्तिगत सीमाओं का अतिक्रमण करें और आत्मा की अनंतता में उठें, जगत में अपना कर्तव्य पालन करते हुए मुक्त भाव से विचरें।

दूसरी ओर एक भिन्न स्तर पर हम जीवात्मा हैं। जिसका केन्द्र श्रीअरविंद ने हमारे सिर के ऊपर बताया है। यह प्रकृति में नहीं उतरता, यह सदा शुद्ध और मुक्त है। लेकिन इसकी चेतना, इसकी दृष्टि सीमित है। यह भगवद् अंश कहलाता है। शास्त्रों में इसे ही 'ब्रहु' कहा है। एक आत्मा जो अनेक रूपों

में अपने आप को बिना पृथक हुए विभक्त करता है, उसकी यह अभिव्यक्ति ही जीव अथवा 'बहु' कहलाती है। यह जीव अथवा जीवात्मा अपने आत्म-तेज से एक व्यक्तित्व का निर्माण करता है और उसे प्रकृति में स्थित करता है, अथवा ऐसा कहें- अपने उस आंशिक रूप में स्वयं स्थित होता है। यही मानव आत्मा है, इसका निवास प्राणी मात्र के हृदय में है, हमारी आंतरिक सत्ता में है। यही आवागमन के चक्र में घूमती, धरती पर जीवन के अनुभवों से विकास में वृद्धि को प्राप्त होती है। विकास की एक विशिष्ट स्थिति प्राप्त करने के पश्चात् संसार के सुख-भोग इसे सारहीन प्रतीत होने लगते हैं। जीवन के सही प्रयोजन को जानने की अभीप्सा इसके अंदर जागती है, तब यह बहिर्मुख वृत्ति का त्याग करती है। पदार्थों के अंतर्निहित सत्य की ओर मुड़ती है। सनातन सत्य की खोज, शाश्वत वस्तुओं की प्राप्ति, अपने जीवन-लक्ष्य के रूप में चुनती है।

हमारी चेतना विषय भोगों में तभी तक उतरती है, जब तक बाह्य व्यक्तित्व के साथ एक रहती है। एक बार जब वह अन्तस्थ आत्मा के आनंद का अनुभव ले लेती है, उसके पश्चात् भोगों में नहीं लौटती।

शास्त्र-वाचा

सबसे मूल्यवान वस्तु आत्मा है। उसको छोड़ कर तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो इसकी प्राप्ति के समान आंतरिक संतुष्टि प्रदान करने में समर्थ हो। अतः हे मानव ! तू श्रद्धा के साथ आत्म-उपलब्धि की ओर मुड़। इसलिए नहीं कि उससे तुझे सर्वोच्च सुख प्राप्त होगा, वरन् इसलिए कि ऐसा करने से तू अपनी सत्ता के और जगत-सत्ता के सत्य में निवास करेगा। आत्मा तेरा सत्य स्वरूप है और उसकी प्राप्ति के पश्चात् ही तू भ्रांति से मुक्त होगा। तू जो अपने आपको देह समझता है, यह तेरी भ्रांति है, इससे बाहर आ। आत्मा के ज्ञान में सृष्टि के सारे रहस्य और इससे परे के सब भेद ज्ञात हो जाते हैं। "यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।" आत्मज्ञान में, आत्मस्थिति में ही सब दुखों का अंत है, वही मुक्ति है। इसके पश्चात् जीव के लिए बस एक ही कार्य शेष रहता है-- इस आत्मा को अर्थात् इसके संकल्प को, जीवन में चरितार्थ करना।

अगर अब तक तेरा जीवन दोषपूर्ण था, भूलों से भरा था तो उसके लिए संताप मत कर। अगर भूलें दुहराई न जायें तो हमें छोड़ कर चली जाती हैं। उनकी प्रेरक वृत्ति, भुने चने के समान निष्प्राण हो जाती है। अपने हृदय में साहस संचय कर और आत्म-प्राप्ति का संकल्प ले।

हृदय-गुहा

निरासक्त हृदय अर्थात् मोह-आसक्तिरहित हृदय प्रभु का एक स्वच्छ, सुंदर मंदिर होता है जो प्रभु को अतिशय भाता है। उनका सुरम्य-प्रकाशमान सिंहासन वहाँ सदैव शोभायमान रहता है, जिस पर उनकी जीवंत, तेजोमय, भव्य मूर्ति विराजमान रहती है। जिनकी दिव्य उपस्थिति केवल साक्षी पुरुष के रूप में ही नहीं होती, वरन् वह हमारे जीवन की घटनाओं में हस्तक्षेप करती है। उन्हें सही दिशा में मोड़ प्रदान करती है। जीवन-मार्गों पर उसकी सहायता और रक्षा हमें प्राप्त होती है। मोह-आसक्तिरहित हृदय में ही प्रभु-प्रेम की लता पल्लवित-पुष्पित होती है।

अपने महाकाव्य 'सावित्री' में श्रीअरविंद इसी अनुभूति को इस प्रकार व्याख्यायित करते हैं— सावित्री की माता को संबोधित करते हुए नारद कहते हैं, "मानव-हृदय में ईश्वर छिप कर निवास करते हैं, वे तेरी आत्मा की गुहा में गुप्त रूप से विराजमान हैं, शोक-संताप की पहुँच के परे एक ज्योति वहाँ चमकती है। एक अंधकार का आवरण तेरे और उसके बीच विद्यमान है, तू न उस दिव्य 'अतिथि' की वाणी सुनने में समर्थ है, न उसकी उपस्थिति अनुभव करने में और न उस कल्याणकारी सूर्य के दर्शन करने में ही समर्थ है।"

समर्पण--एक स्थिति

अभीप्सा, त्याग, समर्पण जब तक शब्द मात्र बन कर रहे , जीवन में कभी जागृति न आयी। अंतिम तो क्या, आत्मा के ऊपर से पहला पर्दा भी हम न हटा सके। इन तीनों शब्दों के विग्रह को पार कर, इनकी आत्म-सत्ता में प्रवेश किया, तो मंगल बरसा। तीनों शब्द, तीन जीवंत मूर्तियाँ बन कर पथ पर पग संवारने लगे। मुझे और मेरे जीवन को इन्होंने अपनी सत्ता में आत्मसात् कर लिया। अब मेरा अस्तित्व नहीं है। अगर है तो इन तीनों शब्दों की अभिव्यक्ति के रूप में है। मेरी देह, मेरा हृदय, मेरा मन एक मंदिर के समान है, जिसमें प्रभु विराजमान हैं। उन्हीं के आदेश से जीवन-क्रम चलता है। मैं कुछ नहीं करता हूँ। जो होता है, सब वही करते हैं। जो उन्हें आवश्यक प्रतीत होता है, वे कर लेते हैं, मुझसे करा लेते हैं। क्योंकि मेरा अस्तित्व ही नहीं है, अतः मेरी अनुमति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मैं भी उन्हें, वे जो चाहें सब करने देता हूँ। कृतज्ञता में डूबा रहता हूँ और विनम्रता से भरा, निश्चल, नीरव बना रहता हूँ। सावधान अवश्य रहता हूँ। सचेतनता बनाये रखता हूँ, कहीं पुराना मूढ़ व्यक्तित्व पुनः क्रियाशील न हो उठे। अवचेतना से उठी कोई लहर जीवन पर न छा जाये, उसमें कोई हलचल उत्पन्न न कर दे, सत्ता का कोई अंग उससे प्रभावित न हो जाये, उसका यंत्र न बन जाये। जीवन में उसे चरितार्थ न करने लगे।

चित्त-शुद्धि

चित्त शुद्ध होने पर स्वतः शांत हो जाता है। कहीं इधर-उधर जाने के लिए, इस संसार में कोई विषय उसके लिए नहीं रहता। हम उसे जहाँ चाहें लगा सकते हैं। बिना किसी शिकायत के वह वहीं लग जाता है। इस स्थिति में उठ कर उसके अंदर एकाग्रता आ जाती है। जिस विषय पर चाहे एकाग्र हो सकता है। एकाग्रता की पराकाष्ठा का अर्थ है तदाकार हो जाना। जिस वस्तु या विषय पर चित्त एकाग्र होता है, उसके साथ वह तदाकार हो सकता है। यह क्षमता उसके अंदर है। इसीलिए आत्मा के साक्षात्कार में चित्त की एकाग्रता को इतना अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। निर्विषय चित्त सदा एकाग्र रहता है और ऊपर की ओर, उच्च चेतनाओं की ओर उद्‌घाटित रहता है। उनके प्रभाव और प्रेरणाएँ, उनकी दिव्य संपदाएँ ग्रहण करता है।

अगर हमारा मन पूर्णतः शुद्ध है, आत्म-ज्ञान रूपी अमृत कणों को ग्रहण कर सकता है।

जो व्यक्ति आत्मा के गुणों को अपने स्वभाव में उतार चुका है और स्वार्थ-भावना तथा अहंजन्य कामनाओं से ऊपर है, उसे ही आत्मा अपने यंत्र के रूप में चुनती है

शांत चित्त

जब हमारा मन शुद्ध, शांत और एकाग्र हो जाता है तब स्वाभाविक रूप से उच्च चेतनाओं की ओर उद्‌घाटित रहता है। ऊपर से दिव्य ज्योति, शांति, शक्ति, ज्ञान और आनंद उसमें अवतरित होते रहते हैं। इन अवतरणों को हम बिलकुल स्पष्ट अनुभव करते हैं। हर अवतरण हमारी चेतना को परिवर्तित करने में सहायक सिद्ध होता है। उसे विस्तृत करता है। जीवन और जगत के प्रति हमारे दृष्टिकोण को आध्यात्मिक बनाता है। हमारी दृष्टि वस्तुओं और प्राणियों के बाह्य स्वरूप को भेदने लगती है। हम उनके पीछे उनके अंदर एक दिव्य उपस्थिति अनुभव करते हैं। उससे ही व्यवहार करते हैं।

संत, महात्मागण जो हमारे सामने झुके हुए, विनीत तथा करबद्ध होकर अति आदर-भाव जताते हुए वार्तालाप अथवा व्यवहार करते हैं, वह सब वे इसी दिव्य उपस्थिति के लिए करते हैं। हमारे अंदर यह उपस्थिति ही हमारे व्यक्तित्व का सत्य है। आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् हमारी सत्ता में सूक्ष्म दृष्टि खुल जाती है। हमारी अंतश्चेतना हमारे नेत्रों के पीछे से इनके द्वारा जब प्राणियों और पदार्थों को देखती है, हमें इनके भीतर स्थित भागवत उपस्थिति का स्पष्ट दर्शन होता है। हमारा वर्तमान यांत्रिक व्यक्तित्व मन, शरीर, इंद्रियों से निर्मित है, जो आत्मा के द्वारा पृथ्वी पर अपने विकास को साधित करने के लिए धारण करना होता है।

आलोकित पथ

जिस चेतना में इस समय हमारा निवास है, वह अहंमयी है, सीमित है, केवल अपने जीवन-व्यापारों में ही ग्रस्त है। हमारा मन अज्ञान की शक्तियों के प्रभाव में है। वे ही प्रायः इसे चलाती हैं। इस या उस रूप में व्यक्तिगत स्वार्थ-भावना ही हमारे जीवन-क्षेत्र की परिधि है। विश्व-प्रकृति-सिंधु की कोई भी तरंग, हमें जिधर चाहे मोड़ती है। हम स्थिर नहीं हैं, हमने अपने अंदर सच्चे व्यक्तित्व में स्थित होना नहीं सीखा है। यही कारण है कि हम भटक रहे हैं, लक्ष्य-प्राप्ति से दूर हैं। लक्ष्य का ज्ञान हमें है , गन्तव्य के प्रति हमें सचेतन कराया गया है। लेकिन इसकी प्राप्ति में हम सफल नहीं हो रहे हैं, कारण, हम अपने अंदर, अपनी आत्मा की ओर नहीं मुड़े हैं, उसकी शरण ग्रहण नहीं की।

हमारा जीवन ज्योतिर्मय होना चाहिए। उस पर कहीं अंधकार की काली छाया न हो। हमारे विचार उच्च, भावनाएँ विशाल, कर्म प्रभु-प्रेरित, हमारा ध्येय प्रभु-आदेश-पालन। हमें अंतस्थ आत्मा की शरण लेनी होगी। उसे ही समर्पित रहते हुए उसी के विधान के अनुसार जीवन बिताना होगा। हर चुनाव उसी के हाथों में छोड़ना सीखना होगा। तभी हम आत्म-आलोकित पथ पर चलने में समर्थ होंगे , जिस पर चल कर हर मनुष्य जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त करता है और संसार में अपने जन्म लेने के प्रयोजन को सिद्ध करता है।

पथ का चुनाव

शास्त्र कहते हैं कि जब तक मनुष्य अपनी इंद्रियों को संयत नहीं करता, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं होती, उसका चित्त भ्रांत रहता है। भ्रांत चित्त में उचित और अनुचित कर्म का ज्ञान नहीं होता। वह ज्ञान उसे अगर कोई कराये तो भी वह उसकी वास्तविकता को समाविष्ट नहीं कर पाता; अतः भटकता है।

जीवन के सामने मार्ग बहुत हैं। हर एक की अपनी देन है, लेकिन जिससे हमारी प्यास बुझती है अथवा जो हमारे अंतर की चिर प्यास बुझा सके वह वस्तु हमें हर मार्ग प्रदान नहीं कर सकता। अतः मार्ग का चुनाव आवश्यक है। यही वह मोड़ है जहाँ हमें ज्योतिर्मय और स्थिर बुद्धि की आवश्यकता होती है।

हमें सीमित, अहंमय, क्षुद्र व्यक्तित्त्व को संतुष्टि प्रदान करनेवाले मार्ग पर नहीं चलना है। प्रगति के मार्ग में यह भटकन है। एक प्रकाशपूर्ण, असीम आत्म-विकास का पथ, जो सीधा अतिमानवता में खुलता हो, हम चुनें। जिसके लिए हमारी आत्माएँ युगों-युगों से प्रतीक्षा कर रही हैं।

हम जो हैं, वही रहते हुए आत्म-दिव्यता में नहीं उठ सकते। आत्म-दिव्यता में उठने के लिए स्वभाव को परिवर्तित करना होगा। जीवन-धारा को आत्मा की दिशा में मोड़ना होगा। वर्तमान मानसिक दृष्टि और सोचने का तरीका त्यागना

होगा। इसके स्थान पर आंतरिक सत्य एवं चेतना पर आधारित, आत्म-आलोक से आलोकित, प्रभु को पूर्ण समर्पित जीवन यापन करना सीखना होगा— जो जीवन अहंकार की काली छाया से मुक्त तथा आत्मिक गुणों से भरपूर हो। तभी हम अपनी सत्ता के सत्य में निवास करने के अधिकारी होंगे। आध्यात्मिक जीवन में हमारा उत्थान संभव होगा।

हर स्वार्थपूर्ण विचार, हर निर्दयता से भरी भावना, हर अशुभ कर्म, हमारे और हमारी आत्मा के बीच पर्दा बनता है। स्वभाव की हर अधोमुखी वृत्ति, आत्मा को हमसे ढकती है। इसका अर्थ है, अभी हमारा निवास पूर्णतः बाह्य सत्ता में है, जो वासना, अहंकार तथा अंधता से भरपूर है। मनुष्य का सच्चा व्यक्तित्व, बाह्य व्यक्तित्व के पीछे आंतरिक स्तर पर स्थित है। हमें ऊपरी सतह का भेदन कर भीतर प्रवेश करना सीखना है। तभी सत्ता के सत्य के साथ सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं।

हमें मिथ्या व्यक्तित्व से ऊपर उठना होगा, अपना आचरण सत्यमय बनाना होगा; हृदय, मन, बुद्धि शुद्ध तथा इंद्रियाँ संयमित करनी होंगी— यह आत्म-उपलब्धि की ओर, अपने सच्चे स्वरूप की ओर हमारा पहला पग होगा।

सही दृष्टि

हमें अपने आपको देखने की दृष्टि बदलनी होगी। हम शरीर नहीं आत्मा हैं। आत्मा को हम एकाग्रता के द्वारा हृदय की गहराई में उतर कर अनुभव कर सकते हैं, उसके साथ तादात्म्य संभव बना सकते हैं, वही बन सकते हैं। हृदय की गहराई में ही वस्तु-स्थिति का सत्य हमारे सम्मुख स्पष्ट होता है और अपने विषय में हमारी धारणा को परिवर्तित कर देता है। अपने सच्चे स्वरूप का हमें बोध होता है। हम भ्रांति से बाहर आ जाते हैं।

हृदय की गहराई में उतरने की बात हम इसलिए करते हैं, क्योंकि यह न केवल हमारा अपना व्यक्तिगत अनुभव है, वरन् सभी सिद्ध पुरुष और शास्त्र ऐसा ही कहते हैं। आनंद-स्वरूप अनंत आत्मा के साथ तादात्म्य लाभ करने के लिए प्रवेश-द्वार हमारे हृदय में है अर्थात् हमारी सत्ता की गहराई में, बाह्य सत्ता के पीछे है। तादात्म्य के पश्चात् इस प्रपंच-रूप संसार को देखने की दृष्टि स्वतः बदल जाती है। हमें आकारों के भीतर दिव्य उपस्थिति के दर्शन होते हैं।

किंतु, आत्म-विकास की वर्तमान स्थिति में हम आत्म-साक्षात्कार से दूर हैं। हमारी आत्मा के चाहने पर भी हम जीवन को आत्म-अभिव्यक्ति का रूप प्रदान नहीं कर रहे हैं। कारण, हम सचेतन नहीं हैं। अपनी अंतर्सत्ता के विषय में

अचेतन हैं और केवल बाह्य सत्ता को ही अपने व्यक्तित्व का संपूर्ण रूप समझते हैं।

हर आत्मा में एक संकल्प है, एक अभीप्सा है। वह अपने मूल उद्गम के साथ तादात्म्य लाभ करना चाहती है। इसी अभीप्सा को लेकर वह संसार में अवतरित होती है। लेकिन प्रारंभ के जन्मों में मन, इंद्रियों पर इसका प्रभुत्व नहीं होता। यह अपने आपको उनके द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर पाती। जिस दिशा में चाहे, उन्हें नहीं मोड़ सकती। ये रजोगुण के प्रभाव में होते हैं और कामनाओं के जाल बुनते रहते हैं।

विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में जब हमारा परिचय आत्मा से नहीं होता और अहंकार ही सत्ता का चालक-प्रेरक होता है, हमारी जीवन-धारा बहिर्मुखी होती है। जीवन में घटित होनेवाली घटनाओं के अनुभव से हम विकास लाभ करते हैं। आत्मा उन्नति को प्राप्त होती है। हमें अच्छे और बुरे का, उचित और अनुचित का ज्ञान होता है। हमारी आत्मा जीवन में प्राप्त अनुभवों के आधार पर हमें शिक्षित करती हुई विकास की सीढ़ियों पर चढ़ती है। हमें सही दृष्टि प्राप्त होती है। हम देखते हैं कि यह सृष्टि परमेश्वर की आत्म-अभिव्यक्ति है। इसके कण-कण में वे विराजमान हैं। उनका संकल्प ही यहाँ सर्वोपरि है और प्राणियों तथा वस्तुओं में उसकी चरितार्थता ही सही मानव-जीवन होना चाहिए।

लक्ष्य

श्रीअरविंद और श्रीमाताजी की शिक्षा में— जहाँ वे मनुष्य के कर्तव्य को समझाते हैं, जीवन-लक्ष्य के प्रति सचेतन करते हैं— हम स्पष्ट देखते हैं कि पृथ्वी पर मानव-जीवन का अर्थ है अपने मानव-स्वभाव का अतिक्रमण करना। मनुष्य से अधिक कुछ और अर्थात् अतिमानवता में उठना। अपनी सत्ता के सत्य को पाना, उसे समर्पित रहते हुए जीवन-यापन करना। इस अज्ञानमय जगत में अतिमानसिक चेतना का अवतरण संभव बनाना और उसके द्वारा जीवन को आत्म-दिव्यता में रूपांतरित करना। यह सब तभी संभव है अगर हम प्रथम व्यक्तिगत रूप से अतिमानसिक चेतना में आरोहण करें। उसके अवतरण को अपनी सत्ता में संभव बनायें। जीवन को उसके चारों ओर केंद्रित करें, जगत को रूपांतर के लिए तैयार करें।

हमें आत्मा पर पड़े गहरे आवरण को विदीर्ण करना है। अपने सच्चे स्वरूप में स्थित होना है। तभी हम उस महा चमत्कार में प्रवेश पाते हैं जो सृष्टि का मूल, इसका उद्गम है। प्रवेश के पश्चात् हमारा आनंद दिशाओं में नहीं सिमटता। सब अद्भुत देखते हैं, आश्चर्यों से भरपूर।

वरेण्य जीवन

कोई भी कर्म सब के लिए समान रूप से करणीय नहीं होता। अपने विकास की स्थिति में सब भिन्न हैं। पृथक स्तरों पर निवास करते हैं। विकास के प्रारंभिक रूप में इच्छा अनिवार्य है। अतः इच्छाओं का त्याग एक आध्यात्मिक नियम के रूप में सब के लिए अनिवार्य शर्त नहीं होनी चाहिए। अवश्य, आध्यात्मिक जीवन की मांग है कि मनुष्य के अंदर इच्छाएँ न रहें। अहंकार के साथ इच्छाओं का त्याग शास्त्रोक्त वचन है। लेकिन यह शर्त उनके लिए होनी चाहिए जिनका आत्म-विकास उस स्तर पर पहुँच गया है जहाँ सब प्रभु को समर्पित है, उनके संकल्प की अभिव्यक्ति है। व्यक्तिगत जीवन जैसी चीज ही नहीं है। जहाँ अभीप्सा का रूप इतना तीव्र है कि आत्म-उपलब्धि के बिना जीवन रखना असंभव हो जाये। दूरी कचोटने लगे, पर्दा दूभर हो जाये। मिलन ही जीवन हो। बिना मिले रह न पायें, जो प्रभु का हो कर, प्रभु के लिए, प्रभु के अंदर ही जीना चाहते हों अन्यथा नहीं। उनको समर्पित हो कर, उनके आदेश के पालन के रूप में ही कुछ करना चाहेंगे अन्यथा नहीं। जिनकी भूख, नींद, विश्राम, भोजन प्रभु हो गये हैं, उनके लिए यह स्वाभाविक हो जाता है कि प्रभु-प्राप्ति को छोड़ कर अन्य कोई इच्छा न रहे, उनमें उठ ही नहीं सकती। उठे भी कैसे, कहाँ उठे ? व्यक्ति और व्यक्तित्व दोनों ही तो समर्पित हो चुके हैं। उनके हृदय में केवल प्रभु का निवास है।

प्रभु ही प्राण हैं, प्रभु ही जीवन। प्रभु ही चेतना, प्रभु ही चिंतन। वे ही जीवन-स्वामी। उनके संकल्प की चरितार्थता जीवन।

भागवत जीवन में किसी भी वस्तु का त्याग नहीं है। त्याग की आवश्यकता वहाँ होती है जहाँ जीवन का स्तर निम्न होता है। अज्ञान और अंधकार की शक्तियों की छाया में चलता है। जहाँ अहंकार प्रेरक हो, इंद्रियाँ प्रमुख हों, विषय-भोग-वासना को छूट हो, कोई संयम, कोई नियम न हो। एक विवेकहीन, दृष्टिहीन जीवन जिसमें आवेगों की बाढ़-सी आयी रहती हो, बिना पतवार की नौका के समान लक्ष्यहीन इधर-उधर भटकानेवाला हो। अगर हम विवेक-रूपी छलनी लेकर बैठें और ऐसे जीवन को छानने का प्रयास करें तो शायद ही सार के कुछ कण हाथ लगें। बड़ा भाग सब सारहीन होगा।

उच्च-जीवन, जिसके कण-कण में, कोने-कोने में आत्मा की दिव्यता झलकती है , एक परम पवित्र, परम पूजनीय वस्तु है। वह मानव-आत्मा की परमात्मा के लिए पूजा है, अर्चना है। वह दिव्य कर्मी का दिव्य कर्म है। वहाँ दिव्यता को छोड़ कर उससे बाहर कुछ नहीं। सब कुछ सब भाँति वरेण्य है।

हे प्रभु ऐसी कृपा कर कि मनुष्य स्वार्थ-भावना से ऊपर उठें, व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति में अपना समय नष्ट न करें। उन्हें जो समय मिले उसे इश्वरोपासना में, मानव कल्याण में, परोपकार में लगायें।

इदं ब्रह्म

स्वर्ण से निर्मित आभूषण स्वर्ण ही हैं। स्वर्ण के ही रूप हैं। लेकिन हम उन्हें स्वर्ण नहीं कहते। कुंडल, कड़े, कंगन आदि आभूषण कहते हैं। स्वर्ण एक प्रक्रिया में से गुजर कर, ताप में से हो कर, दबाव सह कर आभूषण बनता है।

ब्रह्म एक दिव्य तत्व है। यह जगत उसकी अभिव्यक्ति है। उसने ही जगत का रूप लिया है। तात्विक रूप से सब वही है। मौलिक तौर पर उसी का अस्तित्व है। फिर भी ब्रह्म, ब्रह्म है और जगत, जगत है। ब्रह्म का स्वरूप पूर्ण सत्यमय है। जगत अपने स्वरूप में सत्य नहीं है। मौलिकता में सत्य है। सद्-आत्मा की अभिव्यक्ति है, उसका स्वरूप नहीं। जगत ब्रह्म की सीधी अभिव्यक्ति नहीं है। एक अति विशाल, सूक्ष्म, अतिभौतिक प्रक्रिया इसके पीछे है। वही जगत रचना का रहस्य है। हम अपने मन को समझाने के लिए सुन लेते हैं, कह भी देते हैं कि "अन्नम् ब्रह्मः," अर्थात् भौतिक तत्व ब्रह्म है। मन, प्राण सब ब्रह्म का ही रूप है। लेकिन कैसे, किस प्रकार वह दिव्य तत्व अदिव्य वस्तुओं का, अदिव्य तत्वों का रूप धारण करता है, यह हम नहीं समझ पाते! क्योंकि यह मन का विषय नहीं है, मन के क्षेत्र से परे की वस्तु है। ब्रह्म की अव्यक्त अवस्था में भी इसका समाधान नहीं है। यह रहस्य जानने के लिए आत्मा की ऊँची चेतनाओं में उठना होता है। अतिमानसिक चेतना में सृष्टि और आत्मा के सब

भेद-प्रभेद ज्ञात हो जाते हैं। उस स्तर-विशेष पर सब स्पष्ट है। श्रीअरविंद के अनुसार अतिमानस भागवत चेतना है। अतिमानसिक दृष्टि से हम जगत और उसमें निहित आत्मा, दोनों के यथार्थ स्वरूप को एक साथ देखते हैं। सब रूप, सब प्रक्रियाएँ, सब शक्तियाँ तथा तत्व प्रभु अपने आप हैं। सब उनकी अपनी सत्ता में अपनी अभिव्यक्तियाँ हैं। अतिमानसिक दृष्टि के द्वारा हमें न केवल ब्रह्म का, वरन् जगत की वास्तविकता का भी, न केवल सद्-आत्मा का वरन्, सृष्टि की सत्यता का भी, न केवल परमार्थ तत्व का, वरन् उसकी जगत-रूप इस अभिव्यक्ति का भी समग्र, सविस्तार, ज्ञान प्राप्त होता है।

अनन्य भक्त, आत्म-ज्ञानी तथा दिव्य कर्मी के पीछे एक ही चेतना होती है। यह चेतना उसी एक, अखंड, अद्वितीय पुरुष की है जिसका यह सब आत्म-विस्तार है।

अहंकार की ग्रंथि खुलने पर आत्मा की अखंडता में हमारा निवास संभव हो जाता है। हमें कोई पराया दृष्टिगोचर नहीं होता। सब अपने, सभी आत्मीय नजर आते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अनुभूति हमारी अपनी होती है। 'मम आत्मा सर्व भूतात्मा' के चेतना-स्तर से हम जगत को देखते, उसमें व्यवहार करते हैं।

इच्छा नहीं अभीप्सा

आवश्यकता और इच्छा में भेद है। आवश्यकता की पूर्ति अनिवार्य होती है, युक्तियुक्त होती है। इच्छाएँ हमारी प्राणिक प्रकृति में तरंगें होती हैं और प्रायः सांसारिक पदार्थों तक ही सीमित होती हैं। ऐसी इच्छाएँ कम ही होती हैं जिनका स्तर उच्च, आर्दशमय होता है। ये केवल उनमें उठती हैं जिन्होंने आत्म-विकास में एक लंबा पथ तय कर लिया है।

अभीप्सा और इच्छा में भी स्तर-भेद है। गति की दिशा भी भिन्न होती है। अभीप्सा चैत्य पुरुष का अर्थात् हमारी आत्मा का स्वाभाविक गुण है। हमारी अभीप्सा की दिशा वही होती है जिसमें हम आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार का विकास साधित कर सकें।

संसार में मानव-आत्मा का विकास के लिए अवतरित होती है, जिससे कि विकसित होकर हम संसार में प्रभु के सुयोग्य यंत्र बन सकें और पृथ्वी के वातावरण को अज्ञान तथा अंधकार की शक्तियों से मुक्त कर सकें। हमारा चैत्य पुरुष, हमारा सच्चा व्यक्तित्व जानता है कि वह प्रभु का अंश है और प्रभु को पाना, उनके संकल्प को यहाँ जीवन में चरितार्थ करना, अपने जीवन-लक्ष्य के रूप में चुनता है। इसे छोड़ कर उसे और किसी वस्तु में रस नहीं मिलता। जो इसमें सहायक हो उसे कोई भी मूल्य चुका कर वह प्राप्त करता है।

आत्म-कल्याण

इच्छाएँ सबके अंदर हैं। कुछ सुखी होना चाहते हैं, कुछ भोगों में लिप्त। कुछ ऊँचा उठना चाहते हैं, कुछ स्वर्ग की प्राप्ति। किन्तु जब आंतरिक खोज का, आत्म-उपलब्धि का प्रश्न आता है तो बात कुछ और ही हो जाती है। जीवन सामान्य स्तर से उठ कर आध्यात्मिकता का रूप ले लेता है। जिसकी पहली शर्त ही है, सब इच्छाओं का त्याग। चाहे हमारी इच्छा, हमारी दृष्टि में कितनी भी ऊँची अथवा महत्वपूर्ण क्यों न हो, आध्यात्मिक जीवन में सब प्रभु की इच्छा के अनुसार, आत्मिक विधान पर आधारित होना चाहिए। अपने ढंग से, मनोनिर्मित किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक कही जानेवाली अभिव्यक्ति, चाहे वह सत्ता के किसी भी भाग में हो, इस मार्ग में सहायक होने की बजाय, बाधक ही सिद्ध होती है। समर्पण से बाहर हो कर, समर्पण को भुला कर, उसे एक ओर रख कर, साधक को अपने आत्म-कल्याण की बात नहीं सोचनी चाहिए। यह एक खतरा है, पतन है, ग़लत राह है। कारण, हमारा आत्म-कल्याण किस वस्तु में है, हमारा मन नहीं जानता। आत्म-कल्याण की परिभाषा, उसकी धारणा, हमारा मानसिक अहं अपने ही ढंग से प्रदर्शित करता है। वह सही नहीं होती। सीमित, आंशिक, एकपक्षीय होती है। वह ठीक वही चीज नहीं होती, जो हमारे अंतस्थ प्रभु ने इस जीवन में हमारे लिए नियुक्त की है। इस

तथ्य की सूक्ष्मता को जो साधक समझने की कोशिश नहीं करते अथवा इस सूक्ष्मता को समझे बिना, पथ का चुनाव अपने हाथों में ले लेते हैं और अपना आत्म-कल्याण स्वयं अपने ढंग से करना चाहते हैं, वे ही प्रायः एक गुरु से दूसरा गुरु, एक आश्रम से दूसरा आश्रम खोजते और बदलते रहते हैं। स्पष्ट है कि इन्होंने न तो समर्पण के भाव की गहराई को समझा है और न आत्म-कल्याण के सही अर्थ को।

जब तक हम विचार के स्थान पर भीतर डुबकी लगाना और चुनाव के स्थान पर अंतस्थ पुरुष की शरण ग्रहण करना नहीं सीख लेते, जीवन-मार्गों पर हमारी भटकन बनी रहेगी।

अगर हम गंतव्य को सीधे सहज ढंग से प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें हर कदम सचेतन होकर उठाने का अभ्यास करना होगा। अंदर और बाहर विद्यमान उपस्थिति के प्रभाव में रहना होगा। जीवन-स्वामी के संपर्क में रहते हुए हर कर्म उनकी अनुमति से, उनके लिए करना होगा।

विश्वासी बन ! विश्वास रख ! विश्वास गया तो सब गया।

श्रद्धा को मत छोड़, मत छूटने दे, दृढ़तापूर्वक पकड़े रह। जब तक श्रद्धा है सब कुछ है, सब कुछ सुरक्षित है, सब संभव है। श्रद्धावान बिना नाव के सप्त-सिंधु लांघ जाता है।

जहाँ श्रद्धा वहीं भगवान; जहाँ भगवान का हस्तक्षेप, उनकी सहायता, उनकी कृपा, वहाँ सब कुछ।

सच्ची युवावस्था

सुख की इच्छा, सुख की आशा हमारी चेतना का पतन है। सुख और शांतिमय जीवन बिताने का अर्थ है, प्रगति के लिए अभीप्सा का न रहना। आत्म-विकास के उद्देश्य को एक ओर रख देना। उत्कर्ष की संभावनाओं को स्थगित कर देना। उन्नति की बात को भुला देना। आत्म-विजय, आत्म-उद्धार के सपनों का स्वाहा कर देना। जिसे कहा जा सकता है, हमने अकर्मण्यता में डूबे रहने के विचार को स्वीकार कर लिया है। यह निष्क्रियता है, जो तमोगुणी प्रकृति की देन होती है। अर्थात् हमारी चेतना का तमोगुण में पतन, और जिसे सहज भाव में एक प्रकार की मृत्यु, मृत्यु जैसी स्थिति कहा जा सकता है। निष्क्रियता को जब हम स्वीकार कर लेते हैं और प्रगति की ओर से अपना ध्यान हटा लेते हैं, केवल सुख-शांतिमय जीवन के सपने सजाने लगते हैं, चाहे हमारी आयु जो भी रही हो, हमारा नाम उन व्यक्तियों में आ जाता है, जिनके बारे में श्रीमाताजी कहती हैं कि मैंने बीस़ वर्ष के बूढ़े और अस्सी वर्ष के जवानों को देखा है। यहाँ यह बात भी स्पष्ट हो जाती है, जिसका उल्लेख उन्होंने अन्यत्र किया है, कि आयु प्रगति में कभी बाधक नहीं होती। जहाँ तक हमारा संकल्प दृढ़ है, हमारे भीतर अभीप्सा और आत्म-विश्वास है, प्रभु-कृपा में हमारी श्रद्धा अटूट है, हम प्रगति करते हैं।

नई सृष्टि : नई दृष्टि

नई सृष्टि में सब कुछ नया होगा। लेकिन नई सृष्टि इसी सृष्टि में, झील में खिले कमल की भाँति, एक छोटा-सा पृथक जगत होगा। प्राचीन, वर्तमान प्रचलित जगत रहेगा। वस्तुएँ, प्राणी, मनुष्य जाति, उनके व्यापार रहेंगे। लेकिन उनके साथ, उनके बीच में, दूसरी दिव्य वस्तुएँ एवं अतिमानव जाति, अपने दिव्य व्यवहार के साथ, तथा उनकी सहायता भी रहेगी। पृथ्वी का वातावरण परिवर्तित हो जायेगा। हमारे भाव, विचार, कर्म बदलेंगे। रहन-सहन का ढंग बदलेगा। शिक्षा-व्यापार के तरीके बदल जायेंगे। उनमें सुधार होगा। नये शास्त्र उपलब्ध होंगे। मानव-चेतना अपनी वर्तमान संकीर्णता को त्याग देगी। एक अतिमानसिक विशालता में मानव उठेगा। एक दिव्य आत्मिक दृष्टि से वह जगत को देखेगा और सब को आत्मीय, सब में आत्मा, आत्मा में सब को देखेगा। मुक्ति की धारणा बदल जायेगी। मुक्त आत्माएँ पृथ्वी पर पुनः जन्म लेंगी और हमें अपने विगत ज़न्म-जन्मान्तरों के अनुभवों से लाभान्वित करेंगी। अब तक की प्राप्त मुक्ति एक आंशिक मुक्तावस्था थी। वह हमारी संपूर्ण सत्ता की मुक्ति नहीं थी। इसीलिए मुक्त आत्माएँ अपने अवशिष्ट कार्य को, साधना की अपूर्णता को पूर्ण करने के लिए जन्म लेंगी। इसके लिए उन्हें बाध्य नहीं किया जायेगा। ऐसा वे स्वयं अंतर्प्रेरित होकर करेंगी। धरती के

वातावरण को परिवर्तित देखकर, उसमें आत्म-दिव्यता को झलकती पाकर वे स्वयं जन्म लेना चाहेंगी और अपने आपको अतिमानव अर्थात् दिव्य मानव के रूप में विकसित देखने के दिव्य स्वप्न को साकार करेंगी। भव-उपवन को नव कुसुमों से पुष्पित देख कर, पृथ्वी के वातावरण में दिव्यता लख कर हर्षायेंगी और उसमें सहयोग प्रदान करने के लिए यहाँ अवतरित होंगी। मनुष्यों के बीच में, उन्हें सहायता करते हुए, मुक्त भाव से जीवन बिताने में अधिक गहन, अधिक व्यापक संतुष्टि अनुभव करेंगी। अपने आपको एक ओर मुक्त देखती हुई, दूसरी ओर प्रभु-सेवा में सीधी संलग्न पाकर पृथ्वी पर ही मुक्ति के अपार आनंद को अनुभव करेंगी।

नई सृष्टि क्या होगी, कैसी होगी, उसमें कौन-से नये तत्व होंगे— इसकी धारणा करना अभी हमारी बुद्धि की पहुँच के बाहर है। हम चाहें तो इस विचार को स्वीकार कर सकते हैं और हम चाहें अस्वीकार भी कर सकते हैं। विचार तो विचार ही होता है। लेकिन जिन्हें दृष्टि है, जिनके अंतर्लोचन खुले हैं, वे देख रहे हैं कि नया जगत अवतरित हो रहा है, जन्म ले रहा है, वर्तमान जगत के पीछे से विकसित हो रहा है, उसकी अभिव्यक्ति दिन-दिन ठोस रूप ग्रहण कर रही है।

"नया जगत जन्म ले चुका है"- श्रीमाताजी

शांति-मुक्ति नहीं, रूपांतर

शांति हमें अवश्य चाहिए। किन्तु शांति की प्राप्ति जीवन का लक्ष्य नहीं है। जीवन का लक्ष्य है, परमात्मा की प्राप्ति। परमात्मा सब संभावनाओं से भरपूर हैं। असंख्य चेतनाओं के स्तर और अस्तित्व उनकी सत्ता में विद्यमान हैं। परमात्मा अनंत प्रकार से अनंत हैं। वे सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान हैं। उन्होंने ही इस सृष्टि की रचना की है, सृष्टि का रूप धारण किया है। सब उनका ही विस्तार है। यहाँ जो है, सब वे ही हैं। सृष्टि उनकी अपनी आत्म-अभिव्यक्ति है। लेकिन हम देख रहे हैं कि इस सृष्टि का मूल दिव्य होते हुए भी, इसके स्वरूप में दिव्यता नहीं झलक रही है। इसका कारण है, सृष्टि आत्मा की सीधी अभिव्यक्ति नहीं हो पायी है। मनुष्य की आत्मा और उसकी देह के बीच अन्य अवचेतन तत्व हैं, जिनके ऊपर मानव आत्मा को अपनी अभिव्यक्ति के लिए निर्भर करना पड़ता है। यही मनुष्य की समस्या है। अगर बीच के तत्व रूपांतरित हो जायें, सचेतन बन जायें, हमारा जीवन हमारी आत्मा की सीधी अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करेगा और यहाँ सब सत्यमय, आनंदमय हो जायेगा।

इस समय जगत का वर्तमान स्वरूप एक अपूर्ण कर्म है। अपनी निर्माण-प्रक्रिया में है। यह सृष्टि का परिसमाप्त रूप नहीं है। प्रभु इसे धीरे-धीरे इसके लक्ष्य की ओर, अपूर्ण से आत्म-परिपूर्णता की ओर ले जा रहे हैं। उनका दिव्य संकल्प

इसके पीछे क्रियाशील है। वे स्वयं हर प्राणी के भीतर विराजमान हैं और सृष्टि का संचालन कर रहे हैं। जब किसी व्यक्ति-विशेष के अंदर हम कुछ सृजनात्मक, नव-निर्माण की अभीप्सा अथवा संकल्प देखते हैं, जो प्राचीन को, जीवन के अज्ञान-अंधकारमय रूप को, सहन करने के लिए तैयार नहीं है, उसका रूपांतर चाहता है, उसके स्थान पर किसी ऊँची, दिव्य वस्तु को लाना चाहता है— तो उसके पीछे प्रभु का यह संकल्प ही होता है। ऐसी आत्माओं के प्रेरक-चालक प्रभु होते हैं। यह उनके दिव्य संकल्प की ही चरितार्थता होती है। कारण, प्रभु चाहते हैं उनकी यह सृष्टि, यह आत्म-अभिव्यक्ति, अपने मूल स्वरूप में रूपांतरित हो। मानव जीवन आंतरिक सत्य के साथ समस्वर हो। आंतरिक सत्य से ही प्रेरित-चालित हो। उसके जीवन में शांति, मुक्ति स्वाभाविक स्थितियाँ हों। आत्म-सत्य में, आत्म-प्रेम में निवास सहज अवस्था हो।

मानव जाति की वर्तमान दयनीय दशा पर किसी को दो आँसू बहाते हुए देख कर एक अलौकिक, अद्‌भुत वाणी उसके सिर के ऊपर, मधुर-मृदु-सी ध्वनि के रूप में गुंजित हुई। वह कुछ-कुछ इस प्रकार थी— 'अगर मनुष्य आत्मा में जाग जायें और आत्म-शक्ति को उपलब्ध करें तो यहाँ सब परिवर्तित हो जायेगा। धरती का जीवन स्वर्गिक हो जायेगा। अधर्म, असत्य, अन्याय और पाप धरती को छोड़ कर अन्यत्र चले जायेंगे।'

कर्तव्य

तेरा पथ आलोकित किया गया है, जिससे कि तू आगे बढ़े। तुझे ज्ञान प्रदान किया गया है, जिससे कि तू उन्नति करे। तेरे अंदर पथ-प्रदर्शक बैठा है जिससे कि तू उसका आदेश पालन करे। कोई तेरा शुभाकांक्षी है। तुझे प्रेम करता है। तुझे सुखी देखना चाहता है। तू उसकी ओर मुड़। उसे अपना समझ। अपना बना। वह अनंत है, दिव्य है और तुझे अपनी अनंतता में उठाना, अपनी दिव्यता में रूपांतरित करना चाहता है। अपने गुणों से तेरी प्रकृति को भरपूर करना, तुझे अपनी ऊँचाइयों में उठाना, अपने समान बनाना चाहता है। यहीं पृथ्वी के आंगन में तुझे स्वर्ग से भी अधिक सुखी और मुक्त देखना चाहता है। किन्तु तेरी ओर से भी तो सहयोग मिलना चाहिए। तेरे अंदर भी तो अभीप्सा जागनी चाहिए। अतः उठ ! और अपना कर्तव्य निभा। समयानुसार आवश्यक तैयारी कर। विश्व-मंगल रूप यज्ञकुंड सजा ले। चैत्य-अग्नि चेतन कर और आत्माहुति के लिए सज्जित हो। तुझे अलौकिक फल की प्राप्ति होगी। जिस अभिलाषा को तेरी आत्मा अपने अंदर युगों से संजोये है, उसे पूर्ण कर। यही सिद्धि का समय है। अपनी सब उपलब्धियाँ धरती के प्राणियों में वितरण कर दे। यही महानतम सिद्धि है। साधना का सर्वोच्च फल है। गहनतम आत्म-संतुष्टि का यही पथ है। सब सीमाओं से बाहर आ। व्यक्तिगत महानता को भूल

जा। जगत को एक आत्मा के रूप में देख। उसके मंगल के लिए अपने जीवन को आहुति का रूप प्रदान कर। प्रभु प्रसन्नता की प्राप्ति का यही पथ है। यही कर्मों में कर्म है। इस सृष्टि का कर्त्ता, जिसने इस सृष्टि का रूप ग्रहण किया है, तुझे इसी भाव में देखना चाहता है। यह उसके लिए अति प्रसन्नता का विषय होता है। स्मरण रख ! प्रभु-प्रसन्नता से बढ़कर संसार में कोई वस्तु नहीं है।

मानव जीवन एक अति महत्वपूर्ण एवं मूल्यवान वस्तु है। इसमें उच्च उपलब्धियों की तथा दिव्य संपदाओं की प्राप्ति की अनंत संभावनाएँ विद्यमान हैं। अगर हम इसे सही ढंग से जीना सीख लें, अगर हमें जीवन जीने की कला प्राप्त हो जाये, अगर हम अपने अंदर सुप्त शक्तियों को जगा सकें, तो उसके फलस्वरूप हम धरती के जीवन को स्वर्ग-वैभव से भरपूर बना सकते हैं और इससे भी अधिक कुछ, अर्थात् इसे आत्मा की दिव्यता में रूपांतरित कर सकते हैं। इसकी प्रेरणा का बीज हमारे अंदर है। इसे करने की सामर्थ्य हमारी आत्मा में निहित है, भले ही आज वह आच्छादित है।

.....

हे प्रभु ! ऐसा कर कि यह भेद सबके समझ में आ जाये कि जीवन किसी की देन है, शरीर किसी की धरोहर है, अतः वे कृतज्ञतापूर्वक सावधान रहते हुए इनका सदुपयोग करें।

मुक्त जीवन

अहंकार के पेंचों में पड़ा, कामनाओं के जाल में फँसा, प्रतिक्रियाओं और द्वेष-भावनाओं की अग्नि में जलता, विषय-वासना से संतप्त, तृष्णा जिसे अनेक मार्गों पर ठेल रही हो, लोभ और मोह भटका रहे हों, कलह और क्रोध जिसे शांति से सोने नहीं देते, सदा अतृप्त इच्छाओं से भरे, व्यथित हृदय को लेकर जो सुबह बिस्तर से उठता और उसी को लेकर रात को सो जाता, जिस-किस मार्ग से भी चले, जिस दिशा में भी दौड़े, हार, निराशा और असंतुष्टि ही हाथ लगती हैं— ऐसे प्राणी को और चाहे जो कहें, मनुष्य नहीं कह सकते। कारण, हम देखते हैं कि जीवन का यह स्तर निम्न है, अंधकारपूर्ण है। इसमें न आत्मा की ज्योति है, न चेतना। न आंतरिक पथ-प्रदर्शन है, न विवेक रूपी प्रदीप, और जहाँ ये चीजें नहीं पनपतीं, न पलतीं, न आश्रय पातीं, वह मानव-जीवन नहीं; क्योंकि मानव-जीवन अंतर्सत्ता की अभिव्यक्ति होना चाहिए और यह उसकी अभिव्यक्ति नहीं है।

मनुष्य अपने आप में एक महान वस्तु है और उसका जीवन भी महानता की अभिव्यक्ति, महान वस्तुओं से भरपूर होना चाहिए। मनुष्य महान है, क्योंकि उसके अंदर आत्मा है। जीवन में आत्मा की चरितार्थता के लिए ही मनुष्य की सृष्टि हुई है। भागवत दिव्य पुरुष उसके अंदर, उसके हृदय में इसीलिए आसीन है कि वह अपने आपको मनुष्य के द्वारा

प्रकट करे, इसे दिव्यता प्रदान करे, इसके जीवन को तथा मन, प्राण, शरीर रूपी इसके यंत्रों को दिव्यता में, उनके सच्चे स्वरूप में रूपांतरित करे।



जो आत्मा को पाना चाहे, उसमें निवास करना चाहे, जिसके हृदय में भागवत यंत्र हो कर संसार में जीवन-यापन करने की अभिलाषा है-- उसे चाहिए कि वह अहंकार का त्याग करे। मन से समस्त वासनाओं को निर्मूल करे। इंद्रियों पर पूर्ण संयम और आवेगों पर पूर्ण नियंत्रण रखे। दूसरी ओर, भागवत कृपा में पूर्ण श्रद्धा, उनकी सहायता में अटूट विश्वास रखे, प्रभु को सर्वभावेन सारी सत्ता का समर्पण करे। उन पर पूर्ण निर्भर होना सीखे। अपने अंदर आत्म-विश्वास जगाये। संकल्प की दृढ़ता, चित्त की शुद्धता, अदम्य साहस और उत्साह का संचय करे। तप-त्याग और श्रम करने की वृत्ति धारण करे। आलस्य, प्रमाद, निरर्थक वार्तालाप की अवहेलना कर विनम्र एवं प्रसन्न रहे। प्रभु-चिंतन में इतना डूबा रहे कि खान-पान, कर्म, विचार-भाव, सब उसी में, उसी के अनुरूप, उसी के लिए स्वतः होने लगे।

कैसे भी हृदय का पर्दा हटना चाहिए। अंतर्ज्योति से जीवन पथ आलोकित होना चाहिए।

भावी मानव

आज एक कल्पनातीत वरदान पृथ्वी को प्राप्त होता हुआ हम देख रहे हैं। मानव अपनी मानवता लांघ कर, अतिमानवता में उठ रहा है। वह अतिमानव बनने की अभूतपूर्व प्रक्रिया में है। अतिमानव, मनुष्य से ऊपर एक देव-मानव होगा मानों अनंत दिव्य सत्ता एक ज्योतिर्मय मानव के रूप में केंद्रीभूत हो गई हो। अतिमानव पृथ्वी पर प्रभु का प्रतिनिधि होगा, जिसकी उपस्थिति धीरे-धीरे एक दिन संसार से दुख-कष्ट, व्याधि और मृत्यु का अंत करने में समर्थ होगी। अतिमानव, मनुष्य का अतिमानसिक चेतना में उत्थित, विकसित एवं उसके द्वारा रूपांतरित स्वरूप होगा। उसकी सारी सत्ता अतिमानसिक ज्योति में रूपांतरित होगी और पर्याप्त रूप में ठोस होगी। हम अतिमानव से व्यवहार करेंगे। वह हमारा सहायक होकर हमारे बीच में निवास करेगा। संसार में अतिमानवों की संख्या सदा बढ़ती रहेगी, उसकी एक जाति होगी। इसे संसार बड़े सहज भाव में देव-जाति के रूप में स्वीकार करेगा। वह एक स्वर्णिम काल होगा— धरती पर अकल्पनीय सुख का मानव-स्वप्न साकार हुआ हम देखेंगे।

फलस्वरूप धरती का जीवन स्वर्ग से अधिक सुखी, वैभवपूर्ण, दिव्य ऐश्वर्य से भरपूर होगा। यहाँ सब

आत्म-ज्योति से ज्योतित, आनंद से आनंदित, दिव्यता में रूपांतरित होगा।

जिसकी यह दिव्य देन है, जिसके आत्म-बलिदान का यह स्वर्णिम फल है, उस महामानव को, भागवत पुरुष को मैं नमन करता हूँ। उसके पावन चरणों में प्रार्थना करता हूँ कि हर जन्म में पृथ्वी पर होनेवाले रूपांतर-कार्य में सब-विध समर्पित रहूँ।

मानव आत्मा इस संसार में कुछ करने, कुछ देने के लिए अवतरित होती है। उसका लक्ष्य है-- विकास। अपने इस विकास में उसे अपनी सत्ता के मूल सत्य के साथ एकत्व लाभ करना होता है। उसकी दिव्यता को प्रथम अपने यंत्रों में और तत्पश्चात् जीवन में उतारना, उसके द्वारा उनका रूपांतर संभव बनाना होता है। अपने इस लक्ष्य में वह कहाँ तक सफल होती है, कहाँ तक प्रगति करती है, उसकी अभीप्सा और पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। संकल्प की दृढ़ता, समर्पण की पूर्णता, इस महान उपलब्धि में अनिवार्य शर्तें हैं। उसकी आंतरिक और बाह्य सत्ता के प्रत्येक अंग में पूर्ण सच्चाई ही उसकी रक्षक और सहायक कही गई है।

तेरी महानता हे मानव ! उतनी ही है, जितना तू विश्व-यज्ञ में आहुति बन गया। तेरा जीवन भेंट चढ़ गया।

सतत उत्साह

हमें चाहिए कि प्रभु-प्रेम में पूर्णतः डूबे रहें। हमारा हृदय सब समय उनकी ओर खिंचता रहे। एक वेदना, एक व्याकुलता, प्रभु-मिलन की तड़प, हमें भीतर कचोटती रहे। प्रभु का होने की, उनके दर्शन की प्यास हमारे रोम-रोम में उठती रहे। उन्हें समर्पित हो कर जीवन जीने की अभीप्सा की अग्नि हमारी सत्ता में प्राण का रूप धारण करे। एक उफान-सा हृदय में उठता रहे, लहर-सी उभरती रहे।

एक जोश हमारे अंदर सिंधु की भाँति उमड़ना चाहिए। उसे इतना तीव्र होना चाहिए कि पर्दे को चीर डाले, द्वार का भेदन कर दे। जो अंदर बंद है और बाहर आने के लिए बेचैन है, उसे बाहर लाने में समर्थ हो।

यह जोश, यह तड़प, यह उफान हमारी अभीप्सा का स्वरूप है, जो हमारे चैत्य पुरुष में अपने उद्गम को प्राप्त करने के लिए, अपने मूल के साथ तादात्म्य लाभ करने के लिए उठ रही है। यह हमारे भीतर हमारी अंतर्सत्ता की मांग है, जो जीवन-धारा को नया मोड़ देना चाहती है। उसका प्रवाह आत्म-सत्य की ओर देखना चाहती है।

अगर हम सहयोग प्रदान करें, यह कार्य सुगम हो जाता है। आंतरिक और बाह्य शुद्धि, पूर्ण आत्म-संयम, सत्ता के हर अंग में सच्चाई वे गुण हैं, जिनकी हमसे अपेक्षा की जाती है। प्रभु के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण का भाव स्वीकार करते ही

पथ की बाधाएँ निर्मूल हो जाती हैं। एक दिव्य सूर्य के आलोक से हमारा मार्ग आलोकित हो जाता है। हम गंतव्य की दिशा में सीधे, सुदृढ़ पगों से, निश्चयपूर्वक अग्रसर होते हैं।

जिस चित्त में वासना है, क्रोध और शत्रुता का भाव है, वह समझने की शक्ति खो बैठता है। अन्तःकरण की शुद्धि, आत्म-चिंतन और विनम्रता से वह पुनः लौट आती है।

आत्म-स्वरूप में स्थिति प्राप्त होने के पश्चात् संसार के विषय-भोगों में आकर्षण नहीं रहता। हमारी दृष्टि में समदर्शिता आ जाती है। हृदय में प्राणी मात्र के लिए प्रेम, दया और सहानुभूति स्वतः प्रवाहित होने लगती है। हमारे व्यवहार में सत्यता, विचारों में विशालता, पुनर्जन्म में विश्वास और कर्मफल के भोग में मान्यता दृढ़ हो जाती है।

मनुष्य के हृदय में विकासोन्मुखी आत्मा है, अतः वह अपनी वर्तमान स्थिति और सीमाओं से ऊपर उठेगा। दिव्य चेतना में आरोहण उसके लिए स्वाभाविक होगा।

प्रभु के लिए, प्रभु का हो कर जीना सर्वोच्च कला है।

शाश्वत यात्री

हमारे अंदर शारीरिक और मानसिक दोनों बल होने चाहिएँ। इन दोनों की वृद्धि के लिए शास्त्र हमें सत्यमय और संयमित जीवन यापन करने की शिक्षा प्रदान करते हैं। यही मानव आत्म-विकास का प्रारंभ है। सत्य और संयम का पालन करनेवाले व्यक्ति में ही संकल्प शक्ति का विकास होता है। जीवन में उत्थान लाने के लिए प्रबल संकल्प शक्ति का होना अनिवार्य है। हमारा संकल्प शुद्ध, संयमित, पूर्ण सत्यनिष्ठ हो, सदा आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित, उसे समर्पित रहे। इसी भाव में उठ कर हम जीवन मार्गों पर अग्रसर हों। इससे हमारे अंदर आत्म-शक्ति जाग्रत होगी, आत्म-विश्वास उत्पन्न होगा। जीवन में सफलता के लिए आत्म-विश्वास एक बहुत आवश्यक तत्व है, वह हमारे अंदर होना ही चाहिए। मनुष्य को उच्च जीवन यापन करने के लिए जैसे पशुता मिश्रित वृत्तियों से ऊपर उठना होता है, उसी प्रकार दूसरी ओर एक कदम और आगे अतिमानवता में उठने के लिए सत्यनिष्ठ होना, संयमित जीवन जीना, उच्च चरित्र का निर्माण करना प्रारंभिक अवस्थाएँ हैं।

हमारी आत्मा भव-सिंधु में यात्री है। हमारी जीवन-नौका सीधी, सही, सफलतापूर्वक गंतव्य पर पहुँचे, इसके लिए हमारे पास यंत्र के रूप में सशक्त संकल्परूपी पतवार का होना अनिवार्य है।

त्रिविध पुरुषार्थ

मानव आत्मा जो संकल्प लेकर पृथ्वी पर अवतरित होती है, हमारे वर्तमान जीवन का यह अहंभाव और स्वार्थ से भरा स्वरूप उसे बिलकुल भुला देता है। हम अपने लक्ष्य और कर्तव्य के विषय में बिलकुल अचेतन हो जाते हैं। इस स्थिति से ऊपर उठने के लिए, अचेतनता से बाहर आने के लिए, एक सच्चे तथा सचेतन पुरुषार्थ की मांग हमसे की जाती है। यह पुरुषार्थ मन, प्राण, शरीर रूपी हमारी बाह्य सत्ता के इन तीनों स्तरों पर तीन प्रकार का है, जिसके द्वारा हम अपनी सत्ता के सत्य को जान सकते हैं, उसमें निवास कर सकते हैं। जीवन में चरितार्थ कर सकते हैं। यही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। इसी के लिए हमारी आत्माएँ पृथ्वी पर अवतरित होती हैं। हमारे पुरुषार्थ का पहला स्वरूप है अभीप्सा— सारी सत्ता की ऊर्ध्वमुखी गति। दूसरा है त्याग— जो भी विरोधी तत्व मार्ग में आयें, हमारी अभीप्सा में जो बाधक बनें उन सबका त्याग। तीसरा है— सत्ता का सर्वांगीण समर्पण।

श्रीअरविंद ने अपनी 'माता' पुस्तक में यह सब अति सुंदर, सरल ढंग से, सविस्तार समझाया है।



